

# यम-नियम

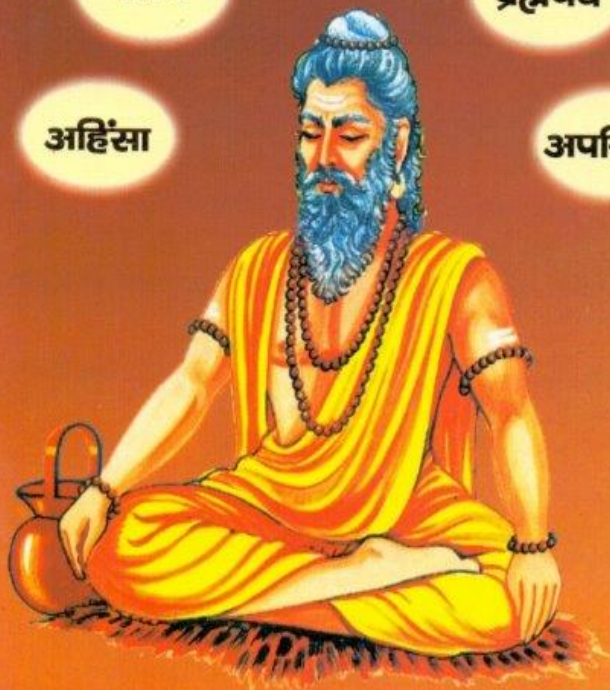
अस्तेय

सत्य

ब्रह्मचर्य

अहिंसा

अपरिग्रह



— श्रीराम शर्मा आचार्य

# यम और नियम



लेखक :  
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :  
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट  
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : ( ०५६५ ) २५३०१२८, २५३०३९९

मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं० २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१२

मूल्य : ९.०० रुपये

## भूमिका

महर्षि पातंजलि के बताए हुए राजयोग के आठ अंग हैं—  
(१) यम, (२) नियम, (३) आसन (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार,  
(६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इन आठ में प्रारंभिक दो  
अंगों का महत्त्व सबसे अधिक है। इसीलिए उन्हें सबसे प्रथम  
स्थान दिया गया है। यम और नियम का पालन करने का अर्थ  
मनुष्यत्व का सर्वतोमुखी विकास है। योग का आरंभ मनुष्यत्व  
की पूर्णता के साथ आरंभ होता है। बिना इनके साधना का कुछ  
प्रयोजन नहीं।

योग में प्रवेश करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है  
कि आत्मकल्याण की साधना पर कदम उठाने के साथ-साथ यम  
नियमों की जानकारी प्राप्त करे। उनको समझे, विचारे, मनन करे  
और उनको अमल में, आचरण में लाने का प्रयत्न करे।

यम नियम दोनों की सिद्धियाँ असाधारण हैं। महर्षि पातंजलि  
ने अपने योगदर्शन में बताया है कि साधना से महत्त्वपूर्ण ऋद्धि-  
सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। हमारा निज का अनुभव है कि यम नियमों  
की साधना से आत्मा का सच्चा विकास होता है और उसके कारण  
जीवन सब प्रकार की सुख शांति से परिपूर्ण हो जाता है। पाठकों  
के लिए इसी उपयोगी मार्ग का इस पुस्तक में दिग्दर्शन कराया  
गया है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

# यम और नियम

‘राज पथ’ का अर्थ है ‘आम-सड़क’—वह रास्ता जिस पर होकर हर कोई चल सके, जिस पर चलने में सब प्रकार की सरलता सुविधा हो, कोई विशेष कठिनाई सामने न आवे। राज योग का भी ऐसा ही तात्पर्य है। जिस योग की साधना हर कोई कर सके, सरलतापूर्वक उसमें प्रगति कर सके और सफल हो सके, यह राज योग है। हठ योग, कुंडलिनी योग, लय योग, तंत्र योग, शक्ति योग आदि उतने सरल नहीं हैं और न उनका अधिकार ही हर मनुष्य को है, उनके लिए विशेष तैयारी करनी पड़ती है और विशेष प्रकार का रहन-सहन बनाना होता है, पर राजयोग में ऐसी शर्तें नहीं हैं, क्योंकि वह मनुष्य मात्र के लिए, स्त्री-पुरुष, गृही-विरक्त, बाल-वृद्ध, शिक्षित सबके लिए समान रूप से उपयोगी और सरल है।

योग का अर्थ है—मिलाना। जिस साधना द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलना हो सकता है, उसे योग कहा जाता है। जीव की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह ईश्वर को प्राप्त कर ले, छोटे से बड़ा बनने के लिए, अपूर्ण से पूर्ण होने के लिए, बद्ध से मुक्त होने के लिए, वह अतीतकाल से प्रयत्न करता आ रहा है, चौरासी लक्ष योनियों को पार करता हुआ इतना आगे बढ़ आया है, यह यात्रा ईश्वर से मिलने के लिए है, बिछुड़ा हुआ बछड़ा अपनी स्नेहमयी माता को ढूँढ़ रहा है, उसकी गोदी में बैठने के लिए छटपटा रहा है। उस स्वर्गीय मिलन की साधना योग है और इधर-उधर बढ़ने का सबसे साफ, सीधा और सरल जो रास्ता है, उसी का नाम ‘राजयोग’ है।

महर्षि पातंजलि ने इस योग को आठ भागों में विभाजित किया है। योग दर्शन के पाद २ का २९वाँ सूत्र है—

---

“यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधियोऽष्टावङ्गानि।”

अर्थात्—‘यम, नियम, आसन, प्राणायाम,, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के यह आठ अंग हैं।’ इस पुस्तक में आठ अंगों में से यम और नियम इन दो अंगों पर विचार किया जाएगा।

योग दर्शन के पाद २ सूत्र ३० में ‘यम’ के संबंध में बताया गया है। “अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः।” अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पाँच यम हैं। पाठकों को यम शब्द से भ्रम में न पड़ना चाहिए, मृत्यु के देवता को भी ‘यम’ कहते हैं, यहाँ उस यम से कोई तात्पर्य नहीं है, यहाँ तो उपरोक्त पाँच व्रतों की एक संज्ञा नियत करके उसका नाम ‘यम’ रखा गया है। यम शब्द से यहाँ उपरोक्त पाँच व्रतों का ही भाव है। आगे क्रमशः प्रत्येक के बारे में कुछ विवेचना की जाती है।

## अहिंसा

साधारण रीति से ‘दुःख न देने’ को अहिंसा कहते हैं। ‘हिंसा का अर्थ है—मारना, सताना, दुःख देना। ‘अ’ का अर्थ है—‘रहित’। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ हुआ—न मारना, न सताना, दुःख न देना। ऐसे कार्य जिनके द्वारा किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचता हो, हिंसा कहलाते हैं, इसलिए उनका करना अहिंसा व्रत पालन करने वाले के लिए त्याज्य है। महात्मा गाँधी के मतानुसार—कुविचार मात्र हिंसा है, उतावलापन हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है, जिसकी दुनिया को जरूरत है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है, इसके अतिरिक्त किसी को मारना, कटु वचन बोलना, दिल दुखाना, कष्ट देना तो हिंसा है ही। इन सबसे बचना अहिंसा पालन कहा जाएगा।

सामान्य प्रकार से उपरोक्त पंक्तियों में अहिंसा का विवेचन हो गया पर यह अधूरा और असमाधान कारक है। कोई व्यक्ति लोगों के

संपर्क से बिलकुल दूर रहे और बैठे-बैठे भोजन, वस्त्र की पूरी सुविधाएँ प्राप्त करता रहे तो शायद किसी हद तक ऐसी अहिंसा का पालन कर सके, पूर्ण रीति से तो तब भी नहीं कर सकता, क्योंकि सांस लेने में अनेक जीव मरेंगे, पानी पीने में सूक्ष्म जल जंतुओं की हत्या होगी, पैर रखने में, लेटने में कुछ न कुछ जीव कुचलेंगे, शरीर और वस्त्र शुद्ध रखने में जुएँ आदि मरेंगे, पेट में कभी-कभी कृमि पड़ जाते हैं, मल त्यागने पर उनकी मृत्यु हो जाएगी। स्थूल हिंसा से कुछ हद तक बच जाने पर भी उस एकांत सेवी से पूरी अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। तब क्या किया जाए? क्या आत्महत्या कर लें? या योगमार्ग की पहली ही सीढ़ी पर चढ़ना असंभव समझ कर निराश हो बैठें?

केवल शब्दार्थ से अहिंसा का भाव नहीं ढूँढ़ा जा सकता, इसके लिए योगीराज कृष्ण द्वारा अर्जुन को दी हुई व्यावहारिक शिक्षा का आश्रय लेना पड़ेगा। अर्जुन देखता है कि युद्ध में इतनी अपार सेना की हत्या होगी, इतने मनुष्य मारे जाएँगे, यह हिंसा है, इससे मुझे भारी पातक लगेगा, वह धनुष-वाण रखकर रथ के पिछले भाग पर जा बैठता है और कहता है कि, “हे अच्युत! मैं थोड़े से राज्य लोभ के लिए इतना बड़ा पाप न करूँगा, इस युद्ध में मैं प्रवृत्त न होऊँगा।” भगवान कृष्ण ने अर्जुन की इस शंका का समाधान करते हुए गीता के अठारह अध्यायों में योग का उपदेश दिया, उन्होंने अनेक तर्क, प्रमाण, सिद्धांत और दृष्टिकोणों से उसे यह भी भली प्रकार समझा दिया कि कष्ट न देने मात्र को अहिंसा नहीं कहते, दुष्टों को, दुराचारियों, अन्यायी, अत्याचारियों को, पापी और पाजियों को मार डालना भी अहिंसा है। जिस हिंसा से अहिंसा का जन्म होता है, जिस लड़ाई से शांति की स्थापना होती है, जिस पाप से पुण्य का उद्भव होता है, उसमें कुछ भी अनुचित या अधर्म नहीं है।

कृष्ण ने अर्जुन से कहा—“इस मोटी बुद्धि को छोड़ और सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर, अहिंसा की प्रतिष्ठा इसलिए नहीं है कि

उससे किसी जीव को कष्ट होता है, कष्ट होना न होना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है, क्योंकि शरीरों का तो नित्य ही नाश होता है और आत्मा अमर है, इसलिए मारने न मारने में हिंसा अहिंसा नहीं है। अहिंसा का तात्पर्य है—‘द्वेष रहित होना।’ निजी राग-द्वेष से प्रेरित होकर संसार के हित-अनहित का विचार किए बिना जो कार्य किए जाते हैं, वे हिंसापूर्ण हैं। यदि लोक कल्याण के लिए, धर्म की वृद्धि के लिए किसी को मारना पड़े या हिंसा करनी पड़े तो उसमें दोष नहीं है।” अर्जुन ने भगवान के वचनों का भली प्रकार मनन किया और जब उसकी समझ में अहिंसा का वास्तविक तात्पर्य आ गया तो महाभारत में जुट पड़ा। अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ तो भी अर्जुन को कुछ पाप न लगा।

एक आप्त वचन है कि—“वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति” अर्थात् विवेकपूर्वक की हुई हिंसा, हिंसा नहीं है। जिह्वा की चाटुकारिता के लोभ में निरपराध और उपयोगी पशु-पक्षियों का मांस खाने के लिए उनकी गरदन पर छुरी चलाना पातक है, अपने अनुचित स्वार्थ की साधना के लिए निर्दोष व्यक्तियों को दुःख देना हिंसा है। किंतु निःस्वार्थ भाव से लोक कल्याण के लिए तथा उसी प्राणी के उपकार के लिए यदि उसे कष्ट दिया जाए तो वह हिंसा नहीं वरन अहिंसा ही होगी। डॉक्टर निःस्वार्थ भाव से रोगी की वास्तविक सेवा के लिए फोड़े को चीरता है, एक न्यायमूर्ति जज समाज की व्यवस्था कायम रखने के लिए डाकू को फाँसी की सजा का हुक्म देता है, एक धर्म प्रचारक अपने जिज्ञासु साधक को आत्मकल्याण के लिए तपस्या के कष्टकर मार्ग में प्रवृत्त करता है। मोटी दृष्टि से देखा जाए तो यह सब हिंसा जैसा प्रतीत होता है, पर असल में यह सच्ची अहिंसा है। गुंडे बदमाशों को क्षमा कर देने वाला, हरामखोरों को दान देने वाला, दुष्टता को सहन करने वाला देखने में अहिंसक सा प्रतीत होता है, पर असल में वह घोर पातकी, हिंसक, हत्यारा है, क्योंकि बुजदिली और हीनता को अहिंसा की टट्टी में छिपाता हुआ, अप्रत्यक्ष रूप से

पाजीपन की मदद करता है, एक प्रकार से अनजाने में दुष्टता की जहरीली बेल को सँचकर दुनिया के लिए प्राणघातक फल उत्पन्न करने में सहायक बनता है, ऐसी अहिंसा को जड़ बुद्धि अज्ञानी ही अहिंसा कह सकते हैं।

पातंजलि योग दर्शन के पाद २ सूत्र ३५ में कहा गया है कि—  
 “अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैर त्यागः।” अर्थात् अहिंसा की साधना से उस योगी के निकट-मन में से-बैर भाव निकल जाता है। बैर भाव, द्वेष, प्रतिशोध की दृष्टि से किसी के चित्त को दुखाना या शरीर को कष्ट देना सर्वथा अनुचित है, इस हिंसा से सावधानी के साथ बचना चाहिए। अहिंसक का अर्थ है—प्रेम का पुजारी, दुर्भावना से रहित। सद्भावना और विवेक बुद्धि से यदि किसी को कष्ट देना आवश्यक जान पड़े तो अहिंसा की मर्यादा के अंतर्गत उसकी गुंजायश है। अहिंसक को बैर भाव छोड़ना होता है, क्रोध पर काबू करना होता है, निजी हानि-लाभ की अपेक्षा कुछ ऊँचा उठना पड़ता है, उदार, निष्पक्ष और न्यायमूर्ति बनना पड़ता है, तब उस दृष्टिकोण से जो निर्णय किया जाए वह अहिंसा ही होगी। परमार्थ के लिए की हुई हिंसा को किसी भी प्रकार अहिंसा से कम नहीं ठहराया जा सकता।

महात्मा गांधी का कथन है कि—“अहिंसा से हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिकाधिक जान पड़ती है, संकट सहते हुए भी शांति और सुख में वृद्धि होती है, हमारा साहस-हिम्मत बढ़ती है। हम कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करना सीखते हैं। अभिमान दूर होता है, नम्रता बढ़ती है। परिग्रह सहज ही कम होता है और देह के अंदर भरा हुआ मैल रोज कम होता जाता है।” अहिंसा कायरों का नहीं वीरों का धर्म है। बैर त्यागकर, प्रेम भावना को, आत्मीयता को प्रमुख स्थान देते हुए बुराई का मुकाबला करना अहिंसा है। बहादुरी, निर्भीकता, स्पष्टता, सत्यनिष्ठा इस हद तक बढ़ा लेना कि तीर-तलवार उसके आगे



तुच्छ जान पड़ें, यह अहिंसा की साधना है। शरीर की नश्वरता को समझते हुए, उसके न रहने का अवसर आने पर विचलित न होना, अहिंसा है। अहिंसक की दृष्टि दूसरों को सुख देने की होती है, अधर्म और अज्ञान को हटाने से ही दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा का पुजारी अपने और दूसरे के अधर्म और अज्ञान को हटाने का अविचल भाव से प्रबलतम प्रयत्न करता है जिससे सच्चा और स्थाई सुख प्राप्त हो, इस महान कार्य के लिए यदि अपने को या दूसरों को कुछ कष्ट सहना पड़े तो उसे उचित समझकर अहिंसक उसके लिए सदा तैयार ही रहता है।

### सत्य

मोटे तौर से जो बात जैसी सुनी है, उसे वैसी ही कहना 'सत्य' कहा जाता है। किंतु सत्य की यह परिभाषा बहुत ही अपूर्ण और असमाधान कारक है। सत्य एक अत्यंत विस्तीर्ण और व्यापक तत्त्व है। वह सृष्टि निर्माण के आधार स्तंभों में सबसे प्रधान है। सत्य भाषण उस महान सत्य का एक छोटा अणु है, इतना छोटा जितना समुद्र के मुकाबले में पानी की एक बूँद।

सत्य बोलना चाहिए, पर सत्य बोलने से पहले सत्य की व्यापकता और उसके तत्त्वज्ञान को जान लेना चाहिए, क्योंकि देश काल और पात्र के भेद से बात को तोड़-मरोड़ कर या अलंकारिक भाषा में कहना पड़ता है। धर्म ग्रंथों में मामूली से कर्मकांड के फल ही बढ़ा-चढ़ा कर लिख गए हैं। जैसे गंगा स्नान से सात जन्मों के पाप नष्ट होना, व्रत, उपवास रखने से स्वर्ग मिलना, गौ दान से वैतरणी तर जाना, मूर्ति पूजा से मुक्ति प्राप्त होना, यह सब बातें तत्त्वज्ञान की दृष्टि से असत्य हैं, क्योंकि इन कर्मकांडों से मन में पवित्रता का संचार होना और बुद्धि का धर्म की ओर झुकना तो समझ में आता है, पर यह समझ में नहीं आता कि इतनी सी मामूली क्रियाओं का इतना बड़ा फल कैसे हो सकता है। यदि होता तो योग, यज्ञ और तप जैसे महान साधनों की क्या आवश्यकता रहती? टके सेर मुक्ति का बाजार गरम रहता। अब प्रश्न उपस्थित

होता है कि क्या यह धर्म ग्रंथ झूठे हैं? क्या इन ग्रंथों के रचयिता महानुभावों ने असत्य भाषण किया है? नहीं उनके कथन में रती भर भी झूठ नहीं है और न उन्होंने किसी स्वार्थ बुद्धि से असत्य भाषण किया है। उन्होंने एक विशेष श्रेणी के अल्प स्वार्थ बुद्धि के, अविश्वासी, आलसी और लालची व्यक्तियों को उनकी मनोभूमि परखते हुए एक खास तरीके से आलंकारिक भाषा में समझाया है। ऐसा करना अमुक श्रेणी के व्यक्तियों के लिए आवश्यक था, इसलिए धर्म ग्रंथों का वह आदेश एक सीमा में सत्य ही है।

बच्चे के फोड़े पर मरहम पट्टी करते हुए डॉक्टर उसे दिलासा देता है। बच्चे! डरो मत, जरा भी तकलीफ न होगी। बच्चा उसकी बात पर विश्वास कर लेता है, किंतु डॉक्टर की बात झूठी निकलती है मरहम पट्टी के वक्त बच्चे को तकलीफ होती है, वह सोचता है कि डॉक्टर झूठा है, उसने मेरे साथ असत्य भाषण किया परंतु असल में वह झूठ बोलना नहीं है।

अध्यापक बच्चों को पाठ पढ़ाते हैं, गणित सिखाते हैं, समझाने के लिए उन्हें ऐसे उदाहरण देने पड़ते हैं, जो अवास्तविक और असत्य होते हैं, फिर भी अध्यापक को झूठा नहीं कहा जाता।

जिन्हें मानसिक रोग हो जाते हैं या भूत प्रेत लगने का वहम हो जाता है, उनका तांत्रिक या मनोवैज्ञानिक उपचार इस प्रकार करना पड़ता है जिससे पीड़ित का बहम निकल जाए। भूत लगने पर, भुतहे ढंग से उसे अच्छा किया जाता है, यदि बहम बता दिया तो रोगी का मन न भरेगा और उसका कष्ट न मिटेगा। तांत्रिक और मनोवैज्ञानिक उपचार में प्रायः नब्बे फीसदी झूठ बोलकर रोगी को अच्छा करना पड़ता है, परंतु वह सब झूठ की श्रेणी में नहीं ठहराया जाता।

राजनीति में अनेक बार झूठ को सच सिद्ध किया जाता है। दुष्टों से अपना बचाव करने के लिए झूठ बोला जा सकता है। दंपति अपने गुप्त सहवास को प्रकट नहीं करते। आर्थिक, व्यापारिक या अन्य ऐसे ही भेदों को प्रायः सच-सच नहीं बताया जाता।

कई बार सत्य बोलना भी निषिद्ध होता है। काने को काना, लँगड़े को लँगड़ा कहकर संबोधन करना कोई सत्य भाषण थोड़े ही है। फौजी गुप्त भेदों को प्रकट कर देने वाला अथवा दुश्मन को अपने देश की सच्ची सूचना देने वाला भी अपराधी समझा जाता है और कानून से उसे कठोर सजा मिलती है। भागी हुई गाय का पता कसाई को बता देना क्या सत्य भाषण हुआ ?

इस प्रकार बोलने में ही सत्य को मर्यादित कर देना एक बहुत बड़ा भ्रम है, जिसमें अविवेकी व्यक्ति ही उलझे रह सकते हैं। सच तो यह है कि लोक कल्याण के लिए, काल और पात्र का ध्यान रखते हुए नग्न सत्य की अपेक्षा अलंकारिक सत्य भाषण से ही काम लेना पड़ता है। जिस वचन से दूसरों की भलाई होती हो, सन्मार्ग के लिए प्रोत्साहन मिलता हो, वह सत्य है। कई बार हीन चरित्र वालों की झूठी प्रशंसा करने पर वे एक प्रकार की लोक-लाज में बँध जाते हैं और स्वमोहन विद्या के अनुसार अपने को सचमुच प्रशंसनीय अनुभव करते हुए निश्चयपूर्वक प्रशंसा योग्य बन जाते हैं। ऐसा असत्य भाषण सत्य कहा जाएगा। किसी व्यक्ति के दोषों को खोल-खोलकर उससे कहा जाए तो वह अपने को निराश, पराजित और पतित अनुभव करता हुआ वैसा ही बन जाता है। ऐसा सत्य असत्य से भी बढ़कर निंदनीय है।

भाषण संबंधी सत्य की परिभाषा होनी चाहिए कि जिससे लोक हित हो वह सत्य और जिससे अहित हो वह असत्य है। मित्र धर्म का विवेचन करती हुई रामायण उपदेश देती है कि—“गुण प्रकटै अवगुणहिं दुरावा” यहाँ दुराव को, असत्य को धर्म माना गया है। आपका भाषण कितना सत्य है, कितना असत्य, इसकी परीक्षा इस कसौटी पर कीजिए कि इससे संसार का कितना हित और कितना अहित होता है। सद्भावनाओं की उन्नति होती है या अवनति, सद्विचारों का विकास होता है या विनाश। पवित्र उद्देश्य के साथ निःस्वार्थ भाव से परोपकार के लिए बोला हुआ असत्य भी सत्य है

और बुरी नीयत से, स्वार्थ के वशीभूत होकर पर पीड़ा के लिए बोला गया सत्य भी असत्य है। इस मर्म को भलीभाँति समझकर गिरह बाँध लेना चाहिए।

वास्तविक और व्यापक सत्य ऊँची वस्तु है। वह भाषण का नहीं, वरन पहिचानने का विषय है। समस्त तत्त्वज्ञानी उसी महान सत्य की अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार व्याख्या कर रहे हैं। विश्व की रंगस्थली, उसमें नाचने वाली कठपुतलियाँ, नचाने वाला तंत्री तत्त्वतः क्या है, इसका उद्देश्य और कार्य कारण क्या है, इस भूल-भुलैयाँ के खेल का दरवाजा कहाँ है, यह बाजीगरी विद्या कहाँ से और क्योंकर संचालित होती है? इसका मर्म जानना सत्य की शोध है। ईश्वर, जीव, प्रकृति के संबंध में जानकारी प्राप्त करके अपने को भ्रम बंधनों से बचाते हुए परमपद प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ना मनुष्य जीवन का ध्रुव सत्य है। उसी सत्य को प्राप्त करने के लिए हमारा निरंतर उद्योग होना चाहिए।

भगवान वेद व्यास ने योगदर्शन २/३० का भाष्य करते हुए सत्य की विवेचना इस प्रकार की है—

“परन् स्वबोध संक्रान्तये वागुप्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता व प्रतिपत्ति बन्ध्या वा भवेदति। एथा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमय्यभिधीयमाना भूतोपघात परैवस्यान् सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्।”

अर्थात्—‘सत्य’ वह है चाहे वह ठगी, भ्रम, प्रतिपत्ति बंध्या युक्त हो अथवा रहित। जो प्राणिमात्र के उपकारार्थ प्रयुक्त किया जाए न कि किसी प्राणी के अनिष्ट के लिए। यदि सत्यतापूर्वक कही गई यथार्थ बात से प्राणियों का अहित होता है तो वह सत्य नहीं। प्रत्युक्त सत्याभास ही है और ऐसा सत्य भाषण असत्य में परिणत होकर पापकारक बन जाता है। जैसे कसाई के यह पूछने पर कि गाय इधर गई है? यदि ‘हाँ’ में उत्तर दिया जाए तो यह

सत्य प्रतीत होने पर भी सत्य नहीं, प्रत्युत प्राणी घातक है। अन्य उपाय न रहने पर विवेकपूर्वक सत्कार्य के असत्य भाषण करना भी सत्य ही है।

महाभारत ने सत्य की मीमांसा इस प्रकार की है—

न तत्त्व वचन सत्यं, न तत्त्व वचनं मृषा।

यदभूत हित मत्यन्तम् तत्सत्यमिति कथ्यते॥

अर्थात्—बात को ज्यों की त्यों कह देना सत्य नहीं है और न बात को ज्यों की त्यों कह देना असत्य है। जिसमें प्राणियों का अधिक हित होता हो, वही 'सत्य' है।

'सत्य' को वाणी का एक विशेषण बना देना उस महातत्त्व को अपमानित करना है। सत्य बोलना मामूली बात है जिसमें आवश्यकतानुसार हेर फेर भी किया जा सकता है। सत्य को ढूँढ़ना, वास्तविकता का पता लगाना और जो-जो बात सच्ची प्रतीत हो, उस पर प्राण देकर भी दृढ़ रहना, यह सत्य परायणता है। 'यम' की दूसरी सीढ़ी 'सत्य बोलना' नहीं, सत्य परायण होना है। योग मार्ग के अभ्यासी को सत्यवादी होने की अपेक्षा सत्य परायण होने का प्रयत्न साहस, निर्भीकता और ईमानदारी के साथ करना चाहिए।

### अस्तेय

'चोरी न करना' अस्तेय का यही संक्षिप्त अर्थ है। पराई चीज को बिना उसकी आज्ञा के गुप्त रूप से ले लेने को चोरी कहते हैं। दूसरे की कमाई का अनुचित रूप से अपहरण करना चोरी है, जिस वस्तु पर न्यायतः अपना स्वत्व नहीं है, उसे उसके स्वामी की बिना जानकारी में या बलात्कारपूर्वक ले लेना स्तेय है, इससे बचना अस्तेय कहा जाएगा।

'पराई चीज को बिना उसकी स्वीकृति के ले लेना' यह चोरी का मोटा अर्थ है। पशुओं का दूध, भेड़ के बाल, मक्खियों का शहद, यह पराई चीज भी हैं और उनकी स्वीकृति के बिना भी ली जाती हैं। पिता की कमाई हुई जायदाद पराई है यदि पिता न चाहते हों तो भी

उनके बाद उस संपत्ति का अधिकार पुत्र को ही प्राप्त होगा। अपराधी से अदालत जुर्माना वसूल करती है राज्याधिकारी आयकर चुंगी, आदि वसूल करते हैं, यह रकमें पराई हैं और मालिक इच्छापूर्वक भी नहीं देते तो भी वह चोरी नहीं है। (१) पराई चीज और, (२) बिना आज्ञा इन दो ही तत्त्वों के आधार पर स्तेय, अस्तेय का ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सकता। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति दबाव डालकर किसी वस्तु को देने के लिए तैयार किया जाता है और वह लाचारी में आज्ञा दे देता है तो क्या वह अस्तेय हो गया? कोई व्यक्ति अपने पास दूसरे की अमानत जमा किए हुए है किंतु अब नीयत बिगड़ जाने से उस पर अपनी मालिकी बताता है और असली मालिक को उसे लौटाने से इनकार करता है, क्या उससे वह अमानत बलपूर्वक न लौटानी चाहिए? क्या वर्तमान समय में पराई चीज दिखाई पड़ने के कारण और बेईमानी से आज्ञा न मिलने के कारण उस अमानत को छोड़ बैठना चाहिए।

मोटे तौर पर स्तेय, अस्तेय की विवेचना करने पर बहुत भ्रम हो सकता है। बहुत बार ऐसा होता है कि वह वस्तु पराई भी नहीं है और आज्ञा का भी प्रश्न नहीं उठता तो भी वह चोरी हो जाती है। जैसे एक दुकानदार अपने बाँट कम रखता है, पलड़ों में पासंग रखता है या कम तोलता है, दुकान में रखी हुई चीजें पराई नहीं हैं और उनमें से इतनी निकाल लेने या कम देने के लिए किसी से आज्ञा लेने की भी जरूरत नहीं है। सेर भर के स्थान पर उसने पंद्रह छटांक चीज दी, वह एक छटांक जो बचाया गया है, शाब्दिक परिभाषा के अनुसार वह चोरी में शुमार नहीं होता तो भी वास्तव में वह चोरी ही है। दरजी लोग सिलाई में कपड़ा बचाते हैं, धोबी कपड़ों को कई दिन घसीटकर पहनते हैं, चक्की वाले आटा बचाते हैं, नौकर आठ पैसे की चीज मँगाने पर सात पैसे की लाकर देते हैं, असली मालिक को इन चोरियों का पता नहीं लग पाता, इस ओर अधिक ध्यान भी नहीं जाता तो भी इनकी गणना

चोरी में ही होगी, मालिक को अपनी हानि का पता न चले और गुप्त या अप्रत्यक्ष रूप से कोई चुपके-चुपके कुछ करता रहे तो भले ही वह प्रकट न होने पावे पर होगी वह चोरी ही।

कर्तव्य की चोरी अपने ढंग की बड़ी गहिँत चोरी है। मजदूरी तय करके जितना समय या जैसा काम करने का ठहराव किया गया है, उसमें कमी करना, आलस्य करना, जी चुराना, बेगार भुगतना आजकल मामूली बात हो गई है; पर यह ठीक वैसी ही चोरी है जैसे किसी का ताला तोड़कर माल असबाब ले जाना, विश्वसनीय गुप्त कार्य को करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर उसका भेद प्रकट कर देना, किसी की कृति को अपनी कृति बनाना, अनाधिकार चेष्टा करना चोरी है, अपने फर्जों को अदा न करना, आश्रितों की उपेक्षा करके स्वयं विशेष सुविधाएँ भोगना, यह भी उसी सीमा में आता है। बच्चों से छिपाकर कोई चीज खाते हैं, पड़ी हुई चीज मिले तो उसके मालिक की तलाश कर उस तक पहुँचानी चाहिए, सब पर प्रकट कर देना चाहिए, या मालिक का पता न चले तो अधिकारी संस्था को सौंप देना चाहिए, यदि ऐसा न किया जाए और वह वस्तु अपने पास चुपचाप रख ली जाए तो वह भी चोरी है। न करने योग्य कार्य के लिए, अग्राह्य वस्तु के लिए मन ही मन ललचाना इस श्रेणी का कार्य है, अपना नियत कर्तव्य करने के बदले में पुरस्कार माँगना, न करने योग्य कार्य को करने के लिए भेंट लेना, यह दोनों प्रकार की रिश्वतें चोरी ही तो हैं। रिश्वतों का किस कदर बाजार गरम है यह किसी से छिपा नहीं है, जिसको जिस काम के लिए नियत किया गया है, वह उसी काम को करने के लिए अपना 'हक' माँगता है, रिश्वत 'हक' कहलाने लगी है। यह किसी विशेष कृपा के लिए नहीं वरन ठीक तरह भलमनसाहत से काम पूरा कर देने के लिए 'हक' माँगा जाता है, न दिया जाए तो ऐसी अड़चनें डाली जाती हैं जिनको सहन करना मध्यमवृत्ति के मनुष्य के लिए बड़ा कठिन होता है। अधिक 'हक' देने पर तो न करने योग्य कामों को

हँसी-खुशी कर देते हैं। जिन लोगों से न्याय और सद्व्यवहार की आशा की जानी चाहिए, वहाँ रिश्वत ने 'हक' का रूप धारण कर लिया है, चोरी तो सीनाजोरी की जुर्रत हो गई है। यह हरकतें अब बंद होनी चाहिए।

अस्तेय का वास्तविक तात्पर्य है—'अपना वास्तविक हक खाना' धर्मपूर्वक जो वस्तु जितनी मात्रा में अपने को मिलनी चाहिए उसे उतनी ही मात्रा में लाना, पूरा एवज चुकाकर किसी वस्तु को ग्रहण करने का ध्यान रखा जाए तो चोरी से सहज ही छुटकारा मिल सकता है, जो कुछ आपको मिल रहा है, उसके बारे में विचार कीजिए कि क्या वास्तव में इस वस्तु पर मेरा धर्मपूर्वक हक है? किसी दूसरे का भाग तो नहीं खा रहा हूँ? जितनी मुझे मिलना चाहिए उससे अधिक तो नहीं ले रहा हूँ? अपने कर्तव्य में कमी तो नहीं कर रहा हूँ? जिनको देना चाहिए उनको दिए बिना तो नहीं ले रहा हूँ? इन पाँच प्रश्नों की कसौटी पर यदि अपनी प्राप्त वस्तु को कस लिया जाए तो मालूम हो सकता है कि इसमें चोरी तो नहीं है, या चोरी का कितना अंश है। किसी का ताला तोड़कर या जेब काटकर कुछ ले लेना तो चोरी है ही, साथ ही कर्तव्य में त्रुटि रखना और हक से अधिक लेना भी चोरी है, इन चोरियों से बचते हुए अपनी पसीने की कमाई पर निर्भर रहना चाहिए।

स्वयं चोरी से बचना तो आवश्यक है ही, साथ ही दूसरों को भी बचाना चाहिए, कम से कम चोरी में सहयोग करना तो बंद कर ही देना चाहिए। रिश्वत देकर यदि कोई काम बनता हो, लाभ होता हो और न देने से हानि हो तो उस हानि को ही सहन करना चाहिए, क्योंकि पशु हत्या में जैसे काटने वाले, बेचने वाले, पकाने वाले सबको पाप लगता है, वैसे ही चोरी के काम में किसी प्रकार मदद करने या चोर की हिम्मत बढ़ने देने से अपने को भी पाप का भागी होना पड़ता है, यदि अपना या किसी दूसरे का हक कोई दुष्ट दुरात्मा बलात्कारपूर्वक अपहरण करता हो तो उसके विरुद्ध संघर्ष



करना चाहिए ताकि विश्व परिवार में से चोरी और अनीति की थोड़ी बहुत मात्रा तो कम हो। स्वयं चोरी न करना और न दूसरों को न करने देना यह एक ही अस्तेय धर्म के दो अंग हैं। योग मार्ग के साधक को दोनों ओर उसी प्रकार ध्यान रखना चाहिए जैसे साइकिल चलाने वाला दोनों पैरों को समान रूप से घुमाता है।

## ब्रह्मचर्य

आमतौर से ब्रह्मचर्य का अर्थ 'वीर्यपात न करना' समझा जाता है। जो व्यक्ति स्त्री संपर्क से बचते हैं, उन्हें ब्रह्मचारी कहा जाता है। यह आधा अर्थ हुआ, आधा अभी शेष है। ब्रह्म का अर्थ है 'परमात्मा में आचरण करना', जीवन लक्ष्य में तन्मय हो जाना, सत्य की शोध में सब ओर से चित्त हटाकर जुट पड़ना ब्रह्म का आचरण है, इसके साधनों में 'वीर्यपात न करना' भी एक है।

महात्मा गांधी ने इस संबंध में बहुत ही उत्तम कहा है—  
 “ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत्संबंधी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय संयम का विशेष अर्थ निकलता है, सिर्फ जननेन्द्रिय संयम के अधूरे अर्थ को तो हम भुला ही दें। जननेन्द्रिय निरोध को ही ब्रह्मचर्य का पालन माना गया है। मेरी राय में यह अधूरी और खोटी व्याख्या है। विषय मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और इंद्रियों को जहाँ तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकार की बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथ से विकारों को भड़काने वाली चीज को छूना और साथ ही जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करना यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने का प्रयत्न करने के समान हुआ। इसीलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करे उसे पहले ही से प्रत्येक इंद्रिय को उस इंद्रिय के विकारों से रोकने का निश्चय कर ही लिया होना चाहिए। मैंने सदा से यह अनुभव किया है कि

ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत है और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें, रक्त डालें तो जननेंद्रिय को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है, तभी उसमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसमें मुख्य 'स्वाद' इंद्रिय है। मेरा अनुभव तो यह है कि यदि अस्वाद व्रत का भलीभांति पालन किया जाए तो जननेंद्रिय का संयम बिलकुल आसान हो जाए। स्वाद की दृष्टि से किसी वस्तु को न खाकर आवश्यकता के विचार से लेना अस्वाद है।''

ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर को काबू में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। मन को विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर है। जहाँ मन है, वहाँ अंत को शरीर भी घिसटे बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकार वश होने देना एक बात है और मन का अपने आप अनिच्छा से, बलात विकार को प्राप्त होना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो आखिर जीत हमारी ही है। हम प्रति पल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तुरंत ही वश में करके मन को वश में करने की रोज कोशिश करने से हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, कर चुकते हैं। वीर्य का उपयोग तो शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने में है। विषय-भोग में उसका उपयोग करना उसका अति दुरुपयोग है, इसके कारण वह कई रोगों का मूल बन जाता है।

जीवनोद्देश्य की पूर्ति में, सत्कर्मों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के प्रयत्न में, ब्रह्म भावना की चर्या में तन्मयता प्राप्त करने के लिए इंद्रियों का संयम अत्यंत आवश्यक है। जिसकी इंद्रियाँ अपने अपने

विषय में दौड़ी फिरती हैं, उनका चित्त एक स्थान पर ठहर नहीं सकता और न उच्च उद्देश्यों में दिलचस्पी ले सकता है। दीर्घ जीवन, निरोगता, शरीर की पुष्टता, सुडौलता, बल-बुद्धि की प्रखरता आदि शारीरिक लाभों की नींव इंद्रिय संयम के ऊपर रखी होती है, शक्तियों का खरच भोगों में न होगा तो उसके द्वारा शरीर और मस्तिष्क बलवान हो सकेगा अन्यथा जिस प्रकार फूटे हुए दीपक में से तेल चुचाता रहता है तो वह अधिक समय तक अधिक प्रकाश के साथ न जल सकेगा, जिस वृक्ष की जड़ों में कीड़े-दीमक लग रहे हों, वह निर्बल और अल्पजीवी ही होगा, यही बात मनुष्य की है। असंयम के कारण इंद्रिय भोगों में जिसकी शक्ति अधिक मात्रा में खरच होती रहती है, वह न तो शारीरिक दृष्टि से निरोग, बलवान एवं दीर्घजीवी हो सकता है और न मानसिक दृष्टि से मेधावी, मनस्वी एवं प्रभावशाली हो सकता है। फिर ब्रह्म के आचरण में रत होना तो दूर की बात है।

इंद्रिय संयम का तात्पर्य है—विवेक के साथ मर्यादा के अंतर्गत इंद्रियों का उपयोग होना। इंद्रियों के आधीन अपने को इतना नहीं होना चाहिए कि भोगेच्छा को रोका न जा सके या रोकने में बहुत विरोध या क्लेश सहना पड़े। इस प्रकार के संयम की आदत डालनी चाहिए कि इंद्रियों की इच्छा को जब चाहें तब आसानी से रोक सकें और भोग सामने हो तो भी उसे छोड़ सकें। कहने को पाँच इंद्रियाँ हैं पर वास्तव में दो का ही संयम करना है। नाक, कान, आँख के भोग तो कभी-कभी और कम मात्रा में मिलते हैं इसलिए उनकी अधिक चाह नहीं होती और न उनमें इतनी प्रबलता ही होती है। जिन पर काबू पाना है वह है—स्वाद और काम-वासना। जीभ के चटोरपन की प्रेरणा से किसी भी वस्तु को खाने से इन्कार कर देना चाहिए। चटपटे, मीठे, खारी, खट्टे, चिकने पदार्थों को देखकर चटोरे मनुष्यों के मुँह में पानी भर आता है, इस वृत्ति को रोकना चाहिए, जब इस प्रकार मन चल रहा हो तो हटात उस वस्तु को न

खाने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और दृढ़तापूर्वक उसका पालन करना चाहिए। कुछ समय के लिए बीच-बीच में कुछ समय तक नमक और मीठा छोड़ने का प्रयोग करते रहना चाहिए। जो वस्तु आवश्यक और लाभदायक हो, उसे स्वाद रहित होते हुए भी सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार गृहस्थ होते हुए भी कभी-कभी कुछ समय के लिए ब्रह्मचर्य से रहने का व्रत लेकर उसे पूरा करते रहना चाहिए, अन्य स्त्रियों को बहिन या पुत्री की दृष्टि से देखना चाहिए, कुदृष्टि के उत्पन्न होते ही अपना एक कान ऐंठ कर अपने आप जोर से चपत लगानी चाहिए, गंदी पुस्तकों से तस्वीरों से और संगीत से बचना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे स्वाद और काम-वासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। किसी बात को पूरा करने के लिए मनुष्य दृढ़ प्रतिज्ञा हो जाए और प्रयत्न बराबर जारी रखे तो कोई कारण नहीं कि उसमें सफलता प्राप्त न हो।

यह नहीं कहा जाता कि स्वादिष्ट पदार्थों का खाना बिलकुल छोड़ ही देना चाहिए या गृहस्थ होते हुए भी वीर्यपात न करने की प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए। कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर सबके लिए न तो यह आवश्यक है और न लाभप्रद ही। साधारणतः स्वादिष्ट, सात्विक एवं सुरुचिपूर्ण भोजन करना शरीर को पुष्ट करता है और मर्यादा के अंतर्गत, स्वस्थ मन से दोनों ही पक्षों की स्वाभाविक तीव्र उत्तेजना होने पर काम सेवन के मानसिक तत्त्वों को उत्साहित करता है, अति का निषेध है, कच्ची आयु में वीर्यपात का निषेध है, दिमागी ऐयाशी का निषेध है, इनसे बचना चाहिए, जहाँ तक हो सके कम अवसर भोग के काम आने देना चाहिए और अधिक अवसर संयम के लिए देना चाहिए। मन को भोगों की ओर से हटा लेना चाहिए, अर्थात् अपनी भोग इच्छाओं पर काबू कर लेना चाहिए ताकि वे अपने को विवश न कर सकें, वरन विवेक की आज्ञानुसार कार्य करें। ब्रह्म में आचरण करने के लिए, दिव्य तत्त्व में चेतना को डुबाए रहने के लिए, इंद्रिय संयम की आवश्यकता है, इसीलिए वीर्यपात में

संयम रखने को ब्रह्मचर्य कहा गया है, अन्य इंद्रियों का संयम भी इसी का एक भाग है।

## अपरिग्रह

अपरिग्रह के संबंध में महात्मा गांधी लिखते हैं—“अपरिग्रह का संबंध अस्तेय से है। जो चीज मूल चोरी की नहीं है पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करने से वह चोरी की चीज के समान हो जाती है। परिग्रह का मतलब संचय या इकट्ठा करना है। यदि हम परमात्मा पर विश्वास रखें तो जानेंगे कि वह हमें हमारी जरूरत की चीजें रोज-रोज देता है और देगा। प्रतिदिन की आवश्यकता के अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करने के ईश्वरीय नियम को हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत में विषमता और तज्जन्य दुःखों का अनुभव करते हैं। धनवान के घर उसके लिए अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं। जब कि उन्हीं चीजों के अभाव में करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो और सब संतोष से रहें। आज तो दोनों तंगी का अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने की कोशिश करता है तो भी उसे संतोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगाल को पेट भर मिल जाने से संतोष होता नहीं पाया जाता। परंतु कंगाल को पेट भर पाने का हक है और समाज का धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने संतोष की खातिर पहले धनाढ्य को पहल करनी चाहिए। वह अपना अत्यंत परिग्रह छोड़े तो कंगाल को पेट भर सहज ही मिलने लगे और दोनों पक्ष संतोष का सबक सीखें।

हम नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहें। सच्ची संस्कृति—सुधार और सभ्यता का लक्षण परिग्रह की वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसकी कमी

हैं, जैसे-जैसे परिग्रह करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता है। सेवा क्षमता बढ़ती है। हम बहुतेरा ऐसा संग्रह करते हैं, जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते। फलतः ऐसे अनावश्यक परिग्रह से हम पड़ौसी की चोरी करने के लिए ललचाते हैं। पर अभ्यास द्वारा आदमी अपनी आवश्यकता को कम कर सकता है और जैसे-जैसे कम करता जाता है, वैसे वैसे वह सुखी और सब तरह आरोग्यवान बनता है। यहाँ यह याद रहे कि वस्तु की भाँति ही विचार का भी परिग्रह न होना चाहिए। जो मनुष्य अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान ढूँस रखता है वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हैं या ईश्वर की ओर नहीं ले जाते वे सब परिग्रह में शुमार हैं, वह अज्ञान ही हैं और इसलिए उससे लाभ के बदले हानि होती है, दिमाग फिर जाता है और अंत में खाली हो जाता है। असंतोष बढ़ता है और अनर्थों की वृद्धि होती है। इस पर से कोई उद्यम हीनता का अर्थ न निकाले। हमारा प्रत्येक क्षण प्रवृत्ति का होना चाहिए। परंतु वह प्रवृत्ति सात्विक हो, सत्य की ओर ले जाने वाली हो। जिसने सेवा धर्म को स्वीकारा किया है, वह एक क्षण भी कर्महीन नहीं रह सकता।

मिट्टी का एक ऊँचा चबूतरा बनाना चाहें तो दूसरे स्थानों पर उतना ही नीचा गड्ढा हो जाएगा। ईश्वर ने इस सृष्टि में इतनी वस्तुएँ उपस्थित की हैं कि सब लोग अपनी आवश्यकता भर ले लें और साधारणतः सुविधापूर्वक जीवन बिताते चलें। परंतु यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुएँ इकट्ठी करता है तो स्पष्ट है कि दूसरों को उसका अभाव सहन करना पड़ेगा। अमीर लोग अपने नीचे बहुत बड़ी संपत्ति दबा कर बैठ जाते हैं। साधारणतः देखने में परिग्रह कुछ बुरी बात नहीं मालूम पड़ती क्योंकि अपनी चतुरता के द्वारा ही तो वह धन कमाया गया है और अपनी कमाई रखने में क्या दोष है? इस समस्या की गहराई में उतरने पर मालूम होता है कि चतुराई का उपयोग दूसरों की सुख वृद्धि तथा आत्मोन्नति

के लिए है, यदि किसी में अधिक चतुराई है तो इसका उपयोग उसे इसी मार्ग में करना चाहिए, अंधाधुंध संपत्ति जमा करते जाने में चतुराई का खर्च करना एक प्रकार का बुद्धि व्यभिचार है, शरीर स्त्री का अपना है वह उसका मनचाहा उपयोग कर सकती है, पर यदि वह वैश्यावृत्ति ग्रहण करे तो निश्चय ही पाप की भोगनी होगी क्योंकि शरीर उसका अपना भले ही है पर उसका उपयोग निषिद्ध मार्ग में करना अनुचित है। इसी प्रकार जो अधिक बुद्धिमान हैं उन्हें उसके द्वारा संसार के दुःखों में कमी और सुखों में वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए न कि धन संपदा द्वारा इससे उलटा आचरण करें।

पूँजी एक जगह रुक जाने से दूसरों की उन्नति के मार्ग बंद हो जाते हैं। अमीर को ऐश उड़ाते देखकर गरीबों के मुँह में पानी भर आता है, स्वाभाविक रीति से उतना कमाना तो संभव नहीं इसलिए उनमें असंतोष बढ़ता है; फलतः ईर्ष्या, जलन, चोरी, कलह, संघर्ष आदि की उत्पत्ति होती है और समाज की सुख-शांति नष्ट होती है। गरीब को अभाव के दुःखों का दुःख, अमीर को चोर और शत्रुओं का भय, चैन दोनों में से एक को भी नहीं मिलता। गरीब भूख के मारे पाप करने को तैयार होता है, अमीर पैसे की इफरात से इतरा कर अनीति बरतता है, इन सारी गड़बड़ियों का कारण परिग्रह है। यदि अपनी आवश्यकता भर ही लेने का संग्रह करने का सब लोग ध्यान रखें तो सहज ही विश्वव्यापी अनीति और अशांति का अंत हो सकता है।

जिसके पास विपुल धन धान्य है, उसे फालतू पैसे को सत्कर्मों के लिए दान करते रहना चाहिए। कम से कम इतना हो करना ही चाहिए कि पैसे की अधिकता से जो अहंकार उत्पन्न होता है और अनीति की ओर पैर बढ़ता है उसे रोके। फालतू पैसे के साथ-साथ आने वाली फिजूलखरची, अहमन्यता, धृष्टता, फैशन, दुर्व्यसन, प्रमाद, खुशामद पसंदगी, अविवेक आदि दुर्गणों से विशेष रूप से सावधान रहे; जहाँ तक संभव हो उनसे बचता रहे। संपत्ति का अपने

को ट्रस्टी समझकर उसकी रक्षा करने और उसका उपयोग उचित मार्ग में करने की दृष्टि रखकर धनीमानी लोग किसी कदर अपरिग्रह का पालन कर सकते हैं।

बादशाह नसिरुद्दीन का जीवन चरित्र जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि बादशाह बहुत बड़े राज्य का मालिक था और उसके खजाने अशर्फियों और जवाहरातों से भरे रहते थे, तो भी वह उसे प्रजा की संपत्ति समझता था और टोपियाँ सींकर तथा पुस्तक लिखकर जो कमाता था उससे अपना गुजारा करता था। एक बार रसोई बनाने में उनकी बेगम का हाथ जल गया तो बेगम ने डरते-डरते एक लौंडी नौकर रख देने की प्रार्थना की पर नसिरुद्दीन ने स्पष्ट कह दिया कि प्रजा की अमानत में से मुझे कुछ भी पैसा खरच करने का अधिकार नहीं है और मेरी निजी आमदनी इतनी नहीं है कि उसमें से एक नौकरानी रखी जा सके। इस आदर्श को निबाहते हुए अमीर लोग अपरिग्रह का पालन भी कर सकते हैं और संपत्ति को सुरक्षित भी रख सकते हैं। निजी खरच के लिए शारीरिक परिश्रम द्वारा कुछ कमाना और संचित पूँजी द्वारा होने वाली आमदनी, श्रेष्ठ कर्मों में लगाते चलना, यह एक सरल तरीका है जिस पर चलकर अमीर लोग भी अपरिग्रही बन सकते हैं।

गरीबों को जीवनोपयोगी जरूरी चीजें जुटानी चाहिए, साधारण जरूरतें पूरी हो जाने के बाद अपरिग्रह की भौतिक मर्यादा, आरंभ होती है। मन से हर एक को सदैव अपरिग्रही होना चाहिए। आदर्श यही सामने रहना चाहिए कि सच्ची जरूरतें पूरी करने के लिए ही कमाते हैं, जोड़ने, जमा करने या ऐश उड़ाने के लिए नहीं। यदि गरीब आदमी लखपती बनने के पनसूबे बाँधता है तो वह परिग्रही है। धन-वैभव के बारे में यह आदर्श निश्चित किया होना चाहिए कि सच्ची जरूरतों की पूर्ति के लिए कमाएँगे, उतनी ही इच्छा करेंगे, उससे अधिक संग्रह न करेंगे। धन को जीवन का उद्देश्य नहीं वरन एक साधन बनाना चाहिए। आत्मोन्नति और परमार्थ जीवनोद्देश्य



तो यही है, जीवन धारण करने योग्य पैसा कमाने के अतिरिक्त शेष समय इन्हीं कार्यों में लगाना चाहिए। पैसे की आज जो सर्वभक्षी तृष्णा हर एक के मन में दावानल की तरह-धधक रही है यह सर्वथा त्याज्य है। सदगी और गरीबी में सच्चा आनंद है। मनुष्य उतना ही सच्चा आनंद प्राप्त कर सकता है जितना अपरिग्रही होगा, परिग्रही के सिर पर तो अशांति और अनीति ही सवार रहती है, इसी मर्म को समझते हुए योगशास्त्र के आचार्यों ने अध्यात्म पथ के पथिक को अपरिग्रही बनाने का कठोर आदेश किया है।

## पाँच-नियम

### शौच

शौच का अर्थ है पवित्र। शरीर और मन दोनों की पवित्रता से वास्तविक अर्थ पूरा होता है। जब तक भीतर-बाहर गंदगी भरी हुई है, मैल जमा है, तब तक अंतः चेतना में ऐसी क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती जिसके द्वारा ब्रह्म विद्या को समझा जा सके, दिलचस्पी ली जा सके या प्रगति की जा सके। जो दर्पण स्वच्छ है, उसी पर परमात्मा का प्रकाश पड़ सकता है। स्वच्छ शरीर में ही स्वच्छ मन का वास हो सकता है, गंदा शरीर रोगों का घर बना रहता है। इस प्रकार योग साधन की प्रारंभिक योग्यता प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम शरीर का और तदुपरांत मन का स्वच्छ बनाना आवश्यक है।

स्वास्थ्य शौच के ऊपर निर्भर है, बीमारियों का एक मात्र कारण अशौच है। हर घड़ी शरीर में मलीनता उत्पन्न होती रहती है, इसलिए उसकी सफाई पर सावधानी के साथ ध्यान रखना चाहिए। पेट में जो मल उत्पन्न होता है उसे नित्य दोनों समय त्यागना चाहिए, यह इतना आवश्यक है कि मल त्याग को ही 'शौच जाना' कहा जाने लगा है। पेट साफ रहे तो कोई भी रोग न हो, आयुर्वेद का मत है कि—“सर्वथा मेव रोगाणां निदानं कुपिता मला।” अर्थात् सब रोगों का निदान मल का कुपित होना है। पेट में अपच होना, दस्त

साफ न होना, बीमारियों का मूल कारण है, इसलिए आहार-विहार इस प्रकार होना चाहिए कि पेट में कब्ज न होने पावे और मल त्याग में बाधा न पड़े।

एक आप्त वचन है कि—“जल से शरीर की और सत्य से मन की शुद्धि होती है।” नित्य शरीर को खूब रगड़-रगड़ कर काफी जल से स्नान करना चाहिए, सिर पर दो लोटे पानी लुढ़का लेने या शरीर को पानी में भिगो लेने से स्नान की आवश्यकता पूरी नहीं होती, इससे तो देह पर जमा हुआ मैल गीला होकर फूलता है और सड़ने लगता है। स्नान के समय किसी मोटे खुरदरे कपड़े से इतना रगड़ना चाहिए कि चमड़ी लाल हो जाए, पसीना सूखकर मैल की एक हलकी सी तह जम जाती है, वह बिलकुल छूट जाए और रोम कूप भली प्रकार खुल जावें। नौ बड़े छेद इस शरीर में हैं, उनमें से मल निकलते रहते हैं, इसलिए नित्य प्रति उनकी सफाई भी जल से करनी चाहिए। मल-मूत्र की इंद्रियाँ शौच जाने और स्नान करने के समय भले प्रकार साफ करनी चाहिए। कान, आँख, नाक के छिद्रों को भी स्वच्छ करना चाहिए जिससे कि वहाँ की गंदगी साफ हो जाए। मुँह की सफाई का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि इसी छेद से अन्न जल पेट में आता है, यदि यहाँ गंदगी रहे तो पेट में जाने वाले अन्न जल भी गंदे हो जाएँगे और रोग उत्पन्न करेंगे। दाँतों या मंजन से दाँतों को आगे और पीछे की ओर रगड़-रगड़ कर साफ करना चाहिए। जिभ्या के ऊपर मैल की एक सतह सी जमती है, उसे छुड़ाना चाहिए, मुँह में काफी पानी भर कर खलखला कर कुल्ले करने चाहिए। बालों की तेल साबुन से सफाई करनी चाहिए जिससे उनकी जड़ों में मैल या जुएँ आदि न होने पावें। तात्पर्य यह कि शरीर के हर एक भाग को कम से कम एक बार तो नित्य ही साफ कर डालना चाहिए।

शरीर के बाद वस्त्रों का नंबर है। कपड़े कम हों, मोटे हों, सस्ते हों, फट जाने पर सी लिए गए हों, तो कुछ हर्ज नहीं, पर यदि मैला, अशुद्ध या गंदा कपड़ा पहना जाए तो यही बड़ी लज्जा

की बात है, मनुष्यता को शर्मिदा करने वाली बात है। धोबी की सुविधा न हो तो अपने हाथों साबुन से, सोड़ा से या वैसे ही स्वच्छ जल से कपड़ों को धोकर धूप में सुखाते रहा जाए तो कपड़े निर्मल रह सकते हैं। पसीने की गंध आने से पहले कपड़े की सफाई हो जानी चाहिए। वस्त्रों की सफाई को देखकर मनुष्य की सुरुचि का पता लगाया जा सकता है। अपने प्रयोग की सभी चीजों की स्वच्छता आवश्यक है। पुस्तकें, मेज, कुर्सी, पलंग, बर्तन, फर्श, घर, छड़ी, छाता हर एक चीज में सफाई, स्वच्छता, कला और सौंदर्य की झलक दिखाई पड़नी चाहिए।

निस्संदेह शरीर की सफाई का मन के ऊपर असाधारण असर पड़ता है। गंदा आदमी गंदे विचार करेगा, अपनी गंदगी से शर्मिदा रहेगा और अपने को नीच कोटि का समझेगा, लोगों से अछूत की तरह बचता रहेगा कि मुझे देखकर कोई नाक भों सिकोड़ेगा, पास बिठाने से घृणा करेगा कि तुम गंदे हो। जिस मनुष्य का स्वभाव स्वच्छ रहने का है, जिसकी सब वस्तुएँ साफ हैं ऐसी झिझक उसके पास कभी नहीं फटक सकती। अपनी स्वच्छता और सुरुचि के कारण वह उत्साहित, प्रसन्न और संतुष्ट रहेगा। शौच जन्य आत्मसम्मान का एक हलका तेज उसके शरीर और वस्त्रों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

सफाई बहुत ही आवश्यक है, गंदी चीजों से बचना अपना स्वभाव बना लेना चाहिए। अशुद्ध और अपवित्र वस्तुओं के संपर्क से पृथक रहना चाहिए। हमारे पूर्वज स्वच्छ रहने और अस्वच्छता का स्पर्श न करने के आदी थे, अब अज्ञान के कारण पूर्वजों की बातों का असली मन्तव्य भूलकर कुछ रूढ़ियों में अंधविश्वास किया जाने लगा है। चौका चूल्हे का जितना विचार होता है, उसमें स्वच्छता नहीं वरन रूढ़ि प्रधान है, इसी प्रकार अमुक जाति के मनुष्य को छूना अमुक को न छूना यह भी ऐसी ही परिपाटी है, वास्तव में यह छूत-छात, जाति-पांति के लिहाज से नहीं वरन स्वच्छता के लिहाज से थी और अब भी वही दृष्टि रखना उचित है।

मन की सफाई सत्य से होती है। निष्कपट व्यवहार और आत्मज्ञान की खोज में प्रवृत्ति रहने से दिन-दिन स्वच्छता की वृद्धि होती जाती है। इंद्रिय निग्रह और स्वार्थ से स्वच्छता की वृत्ति बढ़ती है। दया, परोपकार, त्याग, करुणा, दान, सहानुभूति, सहायता, सद्भावना, क्षमा, प्रसन्नता, सत्यनिष्ठा, दृढ़ता, निस्वार्थता आदि सद्गुणों से अंतःकरण निर्मल होता चलता है, सात्त्विक आहार-विहार को अपनाने से सतोगुणी वृत्तियाँ बढ़ती हैं और तमोगुणी गंदगी हटती जाती है, यह स्वच्छता जितनी ही स्पष्ट होती जाती है, उतना ही योग साधना की योग्यता का विकास होता जाता है। नियमों में पहला नियम शौच है। जो सफाई का ध्यान नहीं रखता वह योग के पहले नियम की ही अवहेलना करता है।

### संतोष

‘सम’ उपसर्गपूर्वक “तुष-प्रीतौ” धातु से संतोष शब्द बना है। प्रीति शब्द का अर्थ है—प्रसन्नता। अमर कोश के प्रथम कांड का काल वर्ग २४वाँ श्लोक देखिए—“मुत् प्रीतिः प्रमादो हर्षः प्रमोदामोद संमदाः।” इससे स्पष्ट है कि संतोष का अर्थ—प्रसन्नता, खुशी, आनंद है। जैसी भी भली बुरी परिस्थिति सामने हो, उसमें प्रसन्न रहना, संतोष का तात्पर्य है।

आजकल संतोष का मतलब समझा जाता है, निठल्ले बैठे रहना, कूड़ा-कचरा खाना, पर हाथ-पाँव न हिलाना, उद्योग न करना, पुरुषार्थ से इनकार करना, पराश्रित रहना, कहीं से किसी प्रकार जो कुछ मिल जाए उसी में काम चला लेना, उन्नति का प्रयत्न न करना, भाग्य के भरोसे बैठे रहना, आपत्तियों के निवारण की कोशिश न करना। आमतौर से संतोष का यही अर्थ किया जाता है। यह अर्थ का अनर्थ करना है। योग शास्त्र, धर्म और अध्यात्म विज्ञान जब से हरामखोरों के गंदे हाथों में पड़ा है तब से उसकी ऐसी ही दुर्गति की गई है। घोर तामस में डूबे हुए अकर्मण्य और आलसी लोगों ने अपनी हीनता और नीचता को ब्रह्म विद्या की आड़ में छिपाने की

इच्छा से उस महाविज्ञान की ही दुर्गति कर डाली। इसका एक उदाहरण संतोष संबंधी अर्थ का अनर्थ हमारे सामने मौजूद है।

उद्योग करना, प्रयत्न जारी रखना, निरंतर ऊँचे चढ़ना, आगे बढ़ना और ऊँची परिस्थितियाँ प्राप्त करने की चेष्टा करना मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है, इसमें कोई भी सिद्धांत या सूत्र आज तक बाधक नहीं हुआ और न आगे हो सकता है, ईश्वरीय नियम में मनुष्य के बनाए हुए सिद्धांत रुकावट नहीं डाल सकते। यदि संतोष के अनर्थ पूर्ण भाव को अपनाया जाए तो दरिद्री, रोगी, पापी, अज्ञानी, अत्याचारी, दुःखी सबको अपनी उसी दिशा में ही रहना होगा। स्वर्ग और मुक्ति जो अत्यंत पुरुषार्थ के फल हैं, उनका प्राप्त होना तो दूर साधारण जीवन का आनंद लेना भी दुर्लभ हो जाएगा। अहदी और अपाहिजों की तरह वे 'संतोषी' लोग अंधकार पूर्ण तामसिक परिस्थितियों में पड़े-पड़े सड़ते रहेंगे।

हमें असत को छोड़कर सत की ओर बढ़ना होगा। संतोष के झूठे अनर्थ को छोड़कर सच्चे अर्थ को ग्रहण करना होगा। आनंदित रहना, हर घड़ी प्रसन्न रहना, बुरी दुःखदायी परिस्थिति सामने हो तो भी खिन्न न होना, यही संतोष का सारांश है। हर हालत में प्रसन्न रहना, मुस्कराते रहना, प्रफुल्लित रहना एक ऐसा उच्च आध्यात्मिक गुण है जो पर्वत के समान विपत्ति को राई सा हलका बना देता है और नसों में उत्साह की बिजली का संचार करता रहता है। अक्सर देखा जाता है कि कोई अप्रिय घटना या समस्या सामने आने पर लोग बहुत घबरा जाते हैं, दुःखी होकर रोने-पीटने लगते हैं और अपना मानसिक संतुलन खोकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। इन परिस्थितियों में उसकी बुद्धि इतनी कुंठित हो जाती है कि कोई ठीक मार्ग निर्धारित नहीं कर पाती, उस विपत्ति से छुटकारा पाने और क्षतिपूर्ति के साधन जुटाने के लिए स्वस्थ और शांत मन की आवश्यकता है, पर जिसका मन उलझन में पड़ा हुआ है, दिगभ्रांत हो रहा है, वह भला किस प्रकार सही मार्ग ढूँढ़ सकता है? कहते हैं कि विपत्ति

अकेली नहीं आती एक के पीछे अनेक दुःख चिपके आते हैं, कारण यह है कि अस्वस्थ बुद्धि के निर्णय एवं कार्य अनुचित होते हैं फलस्वरूप उनकी गाँठ और भी ज्यादा उलझती जाती है। यदि संतोष का अभ्यास किया जाए, बुरी घड़ी में भी विचलित होने की आदत हो तो वह कठिनाई जो सामने आई थी, आसानी से हल की जा सकती है, क्षतिपूर्ति का मार्ग ढूँढ़ा जा सकता है, नई कठिनाई पैदा होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जो वस्तुएँ प्राप्त हैं उनका प्रसन्नतापूर्वक उपभोग करना, उनमें रस लेना और ईश्वर की देन समझकर सिर माथे पर लेना यह संतोष का लक्षण है। कर्म करते समय अधिक की इच्छा करना और फल भोगते समय संतुष्ट रहना यही संतोष की नीति है। जो भोजन परोस कर सामने आ गया है और उसे बदला नहीं जा सकता तो उचित है कि उसे सिर माथे पर रखकर अमृतमय व्यंजनों की भावना से ग्रहण करें। यदि विवाह हो चुका है और किसी स्त्री को जीवन संगिनी बनाया जा चुका है तो यही उचित है कि जैसी भी कुछ काली कुबड़ी वह है, अप्सरा समझकर स्नेह किया जाए। कठिन परिश्रम के बाद जो मजूरी मिली है, उस पर प्रसन्न रहा जाए। जब काम करने का समय हो तब ऊँची और अच्छी स्थिति प्राप्त करने का जी तोड़ उद्योग करना आवश्यक है, पर जब कि काम करने का अवसर समाप्त हो गया और कोई निश्चित परिश्रम सामने आ गया है जिसका कि हटाया जाना अशक्य है तो यही उचित है कि कुड़कुड़ाना, झुंझलाना, भाग्य को कोसना छोड़कर संतोष का घूंट पिया जाए, क्योंकि यह कुढ़ना निरर्थक है, इससे मानसिक विक्षेप बढ़ सकता है और निराशा एवं आत्महीनता की भावनाएँ बल पकड़ सकती हैं, इससे लाभ कुछ न होगा हानि ही अधिक रहेगी। इस हानि से बचने के लिए एक बहुत ही उत्तम ढाल अपने पास है और वह है—संतोष।

भाग्य में जो कुछ लिखा, वह होकर रहेगा, विधान के अंक मिट नहीं सकते, देव इच्छा वलीयशी, संतोषी सो सदा सुखी, यह

उक्तियाँ प्रयोग करने का ठीक समय तब है जब कि कोई इच्छा से न्यून, हलका या विपरीत परिणाम सामने आवे। चूँकि हर एक की मनोवांछाएँ सदैव पूरी नहीं होती हैं, असफल या अल्प सफलता मिलने के भी प्रसंग आते हैं, उन अप्रिय प्रसंगों के सामने आने पर भी चित्त की प्रसन्नता बनाए रहने के लिए, संतोष भाग्य आदि की व्यवस्था है। जो सिद्धांत जिस समय जिस कार्य के लिए है, उसे उसी में प्रयोग करना चाहिए। कर्तव्य करने में संतोष कर बैठना तो ऐसा है जैसे कपड़ा काटने की कैंची का उपयोग अपनी नाक काटने में कर लेना।

संतोषी को प्रसन्न रहना चाहिए। हर घड़ी अपने को आनंदित बनाए रहना चाहिए। घर में, व्यापार में, परदेश में, मित्रों में, शत्रुओं में, निंदा में, प्रशंसा में, कष्ट में, संपदा में, लाभ में, हानि में हर एक परिस्थिति में चेहरे पर प्रसन्नता छाई रहनी चाहिए, हर बात के साथ-साथ मुस्कराहट की किरणें निकलनी चाहिए, आत्मा की महानता और दिव्यता का अनुभव करते हुए सदैव गौरवान्वित रहना चाहिए, यही संतोष का मर्म है। योगाभ्यासी को संतोषी रहना चाहिए, जिससे उसका आनंदमय कोश विकसित होता रहे।

## तप

तप का तात्पर्य 'कष्ट सहन' है। गरमी या तेजी लाना भी तप का एक अर्थ है, तपाए जाने से जैसे पानी गरम हो जाता है और हरकत करने लगता है, वैसे ही तपने से मनुष्य की शक्तियाँ भी गरम हो जाती हैं, तेजी से काम करने लगती हैं। चाकू को पत्थर पर घिसने से वह गरम और पैना हो जाता है, कड़ी मशक्कत लेने पर शरीर की गरमी बढ़ जाती है और श्वास तथा रक्त प्रवाह तेजी से चलने लगता है। 'रगड़ से गरमी' पैदा होने का नियम इतना निश्चित और निर्विवाद है कि उसके उदाहरण सर्वत्र देख जा सकते हैं। शरीर और बुद्धि की सुस्ती, मंदता, न्यूनता और त्रुटियों को हटाकर उन्हें तेज, क्रियाशील, उन्नत विकसित बनाने का 'तप' एक अमोघ उपाय है। प्राचीनकाल

में कोई कठिन कार्य सामने आता था और उसे पूरा करना साधारणतः कठिन प्रतीत होता था तो उसे तपस्या समझकर किया जाता था जिससे कि वह अधिक योग्य और सक्षम हो जाए। मोंथरा उस्तरा जब बाल नहीं काटता तो उसे तपा कर तेज कराया जाता है, शानगर के घर हो आने के पश्चात् उसका मोंथरापन चला जाता है और तेजी आ जाती है फिर हजामतें बड़ी आसानी से बनने लगती हैं, तप का भी यही फल होता है, तपस्या से योग्यता इतनी तीव्र हो जाती है कि पहले जो कार्य कठिन थे पीछे वे ही बहुत आसान हो जाते हैं। तप करना स्पष्टतः अपनी शक्तियों को तेज करना, गरम करना, तपाना है। पुराण इतिहासों के पन्ने पन्ने पर तप की अपार महिमा का वर्णन है और प्रचुर परिमाण में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि तप के द्वारा लोगों ने बड़े-बड़े वरदान प्राप्त किए हैं, असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों में सफलता प्राप्त की है।

प्रोफेसर निकोल्सन से उनके एक छात्र ने पूछा कि मुझे चित्रकला सीखे इतने दिन हो गए पर अभी तक कुछ भी न आया, क्या निकट भविष्य में मैं सफलता प्राप्त न कर सकूँगा। प्रोफेसर ने सिर हिला कर कहा—मुझे आशा नहीं है। छात्र ने पूछा—क्यों? उन्होंने उत्तर दिया—चूँकि तुम एक लखपती के बेटे हो। अमीरों के लड़के कड़ी मेहनत से जी चुराते हैं फलतः वे अपने जीवन में कोई कहने लायक सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। देखा गया है कि गरीब लोग मेहनत करके बड़े आदमी बन जाते हैं, पर बड़े आदमियों के लड़के हमेशा नीचे को खिसकते हैं, कारण यही है तप करने की जो लगन गरीबों के लड़कों में देखी जाती है, वह अमीरों के लड़कों में नहीं होती। तप के अभाव में उनकी शारीरिक और मानसिक योग्यताएँ ठस्स हो जाती हैं, फलतः उनके होसले पस्त हो जाते हैं, क्रियाशीलता को आराम-तलवी खा जाती है।

हिंदू धर्म शास्त्रों में बड़ी प्रचुर मात्रा में ऐसे कर्मकांडों का विधान है जिनमें असाधारण शारीरिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। जाड़े



के दिनों में प्रातःकाल ठंडे जल से स्नान, व्रत, उपवास, तीर्थों की पैदल यात्रा आदि शारीरिक कष्टों को प्रमुख स्थान दिया गया है, ब्रह्मचारियों को नंगे पाँव रहना, जमीन पर सोना, स्वाद रहित भोजन करना, कड़ा शारीरिक परिश्रम करना जैसी कठोर व्यवस्थाएँ हैं। कोई अपराध बन जाने पर कष्ट कर प्रायश्चित्त करने का विधान है, इसका तात्पर्य यह है कि कष्ट सहिष्णुता द्वारा जड़ता को हटाकर चैतन्यता का प्रवेश कराया जाए। परिश्रमशीलता और कष्ट सहिष्णुता यह दो ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण बहुत सी शारीरिक और मानसिक त्रुटियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं, आलसी और आरामतलवी के साथ जो दुर्गुण रहते हैं, कष्ट सहिष्णु सहज ही उनसे बच जाता है। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि बिना विचारे, निरुद्देश्य, जड़तापूर्वक शरीर को कष्ट देना कोई तप है। बहुत से भिखमंगे लोहे के काँटों पर लेटे रहते हैं, उलटे लटक जाते हैं, धूप में पड़े रहते हैं, आग जलाकर दिन-रात तापते रहते हैं, कपड़े नहीं पहनते, किसी अंग को नष्ट कर डालते हैं, यह उजड़डपन अधिक भिक्षा या यश प्राप्त करने की एक तरकीब भले ही हो, पर इनसे तप का उद्देश्य पूरा नहीं होता। तपस्वी कष्ट को अपनाता है पर विवेकपूर्वक वह देखता है कि यह कष्ट सहन अपने लिए या दूसरों के लिए कुछ लाभप्रद होगा या नहीं, यदि उसमें कुछ तथ्य दिखाई पड़ता है तो कष्ट की परवाह न करके वह उसमें जुट पड़ता है।

विद्याध्ययन में सब ओर से चित्त हटाकर एक ही रूखे कार्य में मन को बलात लगाना पड़ता है, ब्रह्मचर्य पालन में, इंद्रिय संयम में, इच्छाओं को कुचलता पड़ता है, व्रत-उपवास में भूख को सहन करना पड़ता है, रात्रि जागरण में निद्रा को रोकना होता है, तीर्थ यात्रा में पैदल चलना पड़ता है, यह सब तप हैं, यदि इनमें वास्तविक लाभ की प्राप्ति होती हो। विवेक और विचारपूर्वक यह कार्य किए जाएँ तो शरीर और मन को लाभ पहुँचाने वाले हो सकते हैं। व्यायाम

भी इसी श्रेणी में आता है। परमार्थ, सेवा, उपकार में प्रवृत्ति तप का लक्षण है। स्वयं कष्ट सहकर अपने हक की वस्तु दूसरे अधिक जरूरतमंद को दे डालना तपस्वी का काम है। अन्याय और पाप के विरुद्ध संघर्ष खड़ा करना फिर चाहे उसमें हार, हानि, कष्ट, अपमान, कटुवचन आदि कुछ भी क्यों न सहन करना पड़े, तप है। पाप के विरुद्ध जो धर्म का युद्ध खड़ा किया जाता है, वह तप है, अर्जुन को 'परंतप' की उपाधि मिली थी।

आलस्य से बचकर कठोर कामों में दिलचस्पी लेना चाहिए, परिश्रम करने का अवसर मिले तो उसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए, नाजुकपन छोड़कर कर्मठ और कष्ट सहिष्णु बनना चाहिए, तपाने से सोना निखरता है और कष्ट में पड़ने से मनुष्य सक्षम बनता है। इन बातों पर ध्यान रखते हुए ऐसे कष्ट कर साहसपूर्ण कामों को अपनाने का सदैव उद्योग करना चाहिए जिनका परिणाम अपने लिए या दूसरों के लिए हितकर निकलता हो। तप का अभ्यास जारी रखने के लिए एकादशी, अमावस्या, पूर्णमासी या किन्हीं अन्य तिथियों को उपवास रखने का नियम बनाना चाहिए, प्रातःकाल बहुत तड़के उठना, व्यायाम करना, कुछ कुछ समय के लिए ब्रह्मचर्य और अस्वाद व्रत की प्रतिज्ञा करना और उसे दृढ़तापूर्वक निवाहना या इस प्रकार के अन्य कार्यों को जीवन का अंग बना लेना चाहिए। ऐसे कार्य जो प्रत्यक्ष में कष्ट कर और पीछे अधिक लाभ करने वाले हैं, उन्हें नियमित रूप से प्रयोग करते रहना चाहिए। कभी अवसर आवे तो अन्य व्यक्तियों की सहायता के लिए तथा दुष्टता को हटाने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यही तप का मार्ग है।

### स्वाध्याय

स्वाध्याय का अर्थ है—अपने आप पढ़ना, अपने बारे में पढ़ना। गुरु की सहायता से बहुत सी पुस्तकें पढ़ते हैं और जानकारीयाँ प्राप्त करते हैं—यह शिक्षा है। शिक्षा प्राप्त करने से मस्तिष्क का विकास होता है और बहुत सी नई बातें मालूम होती हैं, पढ़े-लिखे कहलाते

हैं और वे सुविधाएँ मिलने लगती हैं जो कि पढ़े-लिखे व्यक्तियों को प्राप्त हुआ करती हैं। यह सब होते हुए भी दूसरे का, चाहे वह कितना ही महान व्यक्ति क्यों न हो, कुछ भी असर नहीं पड़ सकता जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं ही अपने ऊपर प्रभाव ग्रहण करने को तैयार न हो। महाप्रभु यीशु के प्रधान शिष्य ने उन्हें केवल तीस रुपए के लोभ में पकड़वा कर मरवा दिया। भगवान राम की धर्ममाता ने उन्हें वनवास दिलाया। प्रह्लाद की बुआ उन्हें गोदी में लेकर जलाने ले गई। कृष्ण का सगा मामा उनकी जान का गाहक बन रहा था। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि कोई कितना ही प्रभावशाली, तेजस्वी या सच्चा क्यों न हो पर बलपूर्वक अपने निकटस्थ सगे संबंधी को भी श्रेष्ठ मार्ग पर नहीं ला सकता। आत्मोन्नति और आत्मसुधार तो हर व्यक्ति के अपने करने का कार्य है, जो स्वयं अपने को ऊँचा उठाने और पवित्र बनाने का प्रयत्न नहीं करता, उसे दुनिया का दूसरा कोई व्यक्ति सुधार नहीं सकता।

इसलिए आत्मोन्नति के इच्छुकों के लिए योग का उपदेश है कि आप अपने बारे में सोचो, विचारो, खोज करो और ज्ञान प्राप्त करो। हम क्या हैं। इस दशा में क्यों हैं? क्या उद्देश्य है? क्या कर रहे हैं? क्या करना चाहिए? इन प्रश्नों के संबंध में भली प्रकार विवेचन करना, त्रुटियों को मालूम करना और निकाल बाहर करने के लिए पुरुषार्थ में तत्पर होना, यह स्वाध्याय का प्रयोजन है। अपने आप मनन या चिंतन द्वारा, अधिकारी लेखकों के सद्ग्रंथों द्वारा, गुरुजनों के सत्संग या प्रवचन द्वारा जो आत्मशोध की जाती है वह स्वाध्याय है। अपने आपको उसी प्रकार पढ़ना-समझना जैसे किसी पुस्तक को पढ़ते या समझते हैं स्वाध्याय है। ऊँचे-उठने के लिए, आगे बढ़ने के लिए इसकी अनिवार्य आवश्यकता है, बिना इसके प्रगति हो नहीं सकती।

आजकल स्वाध्याय के नाम पर किसी पुस्तक का तोते की तरह पाठ कर लिया जाता है और कर्तव्य की इतिश्री मान ली जाती है।

केवल किसी पुस्तक को रटने से वह महान कार्य पूरा नहीं हो सकता। बेशक स्वाध्याय में सद्ग्रंथों की बड़ी भारी आवश्यकता है और उनसे असाधारण मदद मिलती है पर यह कार्य होना चाहिए विचारपूर्वक। अनुभवी विद्वानों ने जीवन तत्त्व के संबंध में जो खोजें की हैं और अपने अन्वेषणों को लिपिबद्ध किया है, उसे समझना चाहिए और लाभ उठाना चाहिए। अंधविश्वास करने या बुद्धि बेचकर लकीर के फंकीर बन जाने के लिए यहाँ नहीं कहा जा रहा है और न यह बताया जा रहा है कि अमुक पुस्तक में लिखी हुई बातों को बिना क्यों? कैसे? किए अपना लिया जाए। यदि आचार्यों की इच्छा यह होती कि जिज्ञासु अमुक पुस्तक या व्यक्ति की बातों पर आँख मीचकर आरुढ़ हो जाए तो उसका नाम 'आज्ञापालन' या कुछ और ऐसा ही रखा जाता। 'स्वाध्याय' नाम से योगशास्त्र की इच्छा स्पष्ट है, वह चाहता है कि हर व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने बारे में विचार करे, इसके लिए पुस्तकों या व्यक्तियों से कुछ मदद ली जा सकती है, पर निर्णय खुद ही करना है। जो फैसला अपने आप किया जाता है, वह कारगर होता है, वही टिकाऊ होता है और वह निभता है। ठूस-ठाँस कर सिखाई-पढ़ाई हुई बात ऊपर ही रह जाती है, पेट तक नहीं पहुँचती, और जो बात पेट तक न पहुँचे उस वाचक ज्ञान से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, कम से कम सच्ची आत्मोन्नति का का द्वार तो खुल नहीं सकता, इसलिए स्वाध्याय की ही महत्ता स्वीकार करनी पड़ी है।

अपने आप अपने बारे में विचार कीजिए, अपनी निजी बुद्धि से जीवन की गुत्थी को सुलझाइए, अपने सुर दुर्लभ मानव जीवन का महत्त्व खुद समझिए और उसका सदुपयोग करने की कोई आदर्श योजना बनाइए। नित्य इस बात का गहरा परीक्षण करते रहिए कि आज हमसे क्या अच्छे कर्म हुए और क्या बुरे कर्म किए। अच्छे कर्मों के लिए मन को शाबाशी दीजिए और कल फिर उससे भी अच्छे कर्म करने की तैयारी कीजिए, जो बुरे कर्म बन पड़े हैं, उनके लिए पश्चाताप करते हुए ईश्वर से क्षमा माँगनी चाहिए और फिर

उस प्रकार के काम न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। रात को चारपाई पर पड़ते समय, सोने से पूर्व नियम बनाकर नित्य आत्मनिरीक्षण करना चाहिए।

लोक व्यवहार के संबंध में, सांसारिक गतिविधि के संबंध में, विश्व की समस्याओं के संबंध में विचार करते रहना चाहिए और उनके सत्य-असत्य का, औचित्य-अनौचित्य का विवेचन करते हुए यह देखना चाहिए कि हमारे ऊपर विश्व की किन परिस्थितियों का कितना प्रभाव पड़ता है और उनके हानिप्रद पहलू से किस प्रकार बच सकते हैं एवं लाभप्रद पहलू को कैसे ग्रहण कर सकते हैं? संसार से अपने संबंधों पर विचार करना, जिन परिस्थितियों के लिए स्वयं को अनुकूल बनाना है उसके लिए अपने को उसी ढाँचे में ढालना, यह सब कार्य स्वाध्याय द्वारा किए हुए निर्णय के आधार पर ही हो सकते हैं।

स्वाध्याय के योग्य मनोभूमि तैयार करने के लिए सद्ग्रंथों का अवलोकन बहुत ही आवश्यक है। इतिहास, पुराण, कथा, काव्य, मजहबी धर्मग्रंथ इस आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकते। जीवन की दार्शनिक, वास्तविक और वैज्ञानिक विवेचना से यह गुत्थी सुलझ सकती है, अतिरंजित कथा कहानियों से नहीं। इसलिए महात्मा जेम्स ऐलन, स्वेट मार्टिन, टॉलस्टाय, सुकरात, महात्मा गाँधी, डॉ० भगवानदास, श्री स्वामी सत्यभक्त, वर्धा आदि व्यवहारवादी दार्शनिकों की रचनाएँ पढ़नी चाहिए, अखंड ज्योति की प्रकाशित पुस्तकें भी कुछ सहायता कर सकती हैं। श्रीमद्भगवद् गीता एवं उपनिषदें समझने की जिन्हें योग्यता है, वे उन्हें पढ़ें, सांप्रदायिकता के रंग से जो ग्रंथ रंगे हुए न होंगे वे अधिक और स्पष्ट सत्य का दर्शन कर सकेंगे। यह बात विशेष रूप से ध्यान रखनी चाहिए।

आत्मोन्नति, अपनी निजी विवेचना, इच्छा, उत्कंठा एवं प्रयत्नशीलता द्वारा ही हो सकती है, इसलिए योग शास्त्र का आदेश है कि ब्रह्म विद्या के प्राप्तार्थियों को अपने आप अपने हृदय का मंथन करना चाहिए, अंतर्मुखी होकर भीतरी तैयारी में उत्साहपूर्वक

जुटना चाहिए तभी वास्तविक लाभ होगा, अन्यथा कोरी दाँता किट-किट या पोथी पाठ तो व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। रई द्वारा दही मथने से घृत निकलता है, स्वाध्याय द्वारा हृदय मथने से मनोवांछा पूरी करने वाली 'चिंतामणि' प्राप्त होती है।

### ईश्वर प्राणिधान

प्राणिधान माने है—धारण करना, स्थापित करना। ईश्वर प्राणिधान अर्थात् ईश्वर को धारण करना, ईश्वर को स्थापित करना। परमात्मा हमारे हृदयों में विराजमान है। गीता कहती है—“ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।” अर्थात्—हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ है, सर्वव्यापक परमात्मा हर एक के रोम-रोम में रम रहा है, फिर भी मनुष्य उसे भूला हुआ है, उसे देखता नहीं, पहचानता नहीं और उसकी आज्ञाओं पर ध्यान नहीं देता। कहने को तो लोग ईश्वर को जानते भी हैं और मानते भी हैं, पर व्यवहार में उसका एक प्रकार से बहिष्कार ही कर देते हैं। पुलिस सर्व व्यापक नहीं है तो भी उससे जितना डरते हैं, उतना ईश्वर से नहीं डरते, अमीरों में उतनी उदारता नहीं होती तो भी अमीरों या अफसरों का जितना आदर करते हैं उतना ईश्वर का नहीं करते, स्त्री का प्रेम उतना सच्चा और स्थाई नहीं होता तो भी जितना प्यार अपनी स्त्री से करते हैं, उतना ईश्वर से नहीं करते, बेटे के ब्याह में जितना खर्च कर देते हैं, उससे चौथाई भी ईश्वर के निमित्त नहीं लगाते। यदि सच्चाई के साथ देखा जाए तो ईश्वर को एक बहुत ही गौण स्थान दिया जाता है या तो धन-संपदा, बेटा, पोता, जीत, स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, स्वर्ग, मुक्ति आदि प्राप्त करने के लिए ईश्वर को टटोलते हैं या कोई विपत्ति आ जाने पर छुटकारा के लिए उसे पुकारते हैं। लौकिक और पारलौकिक बहुमूल्य संपदाएँ झटक लेने के लिए रौली, अक्षत, धूप, दीप में पैसा दो पैसा खर्च करते हैं, इस प्रकार एक देकर सौ लेने की व्यापार बुद्धि से ईश्वर पूजा का व्यवसाय करते हैं।

हमारे यहाँ मथुरा में बंदर बहुत हैं, यह रोज ही घरों में से बर्तन, कपड़े आदि उठा ले जाते हैं और लेकर दूर भाग जाते हैं। हमारा एक पड़ौसी रोटी के टुकड़े और अनाज के दाने तैयार रखता है, उसने जैसे ही किसी बंदर के हाथ में बर्तन, कपड़ा देखा कि अनाज के दाने फेंके, बंदर उस चीज को छोड़कर दाने खाने लगता है और वह चीज पड़ौसी के हाथ लग जाती है, इस प्रकार वह आधे पैसे का सामान खरच करके एक दो रुपया कमा लेता है। भक्त लोग ईश्वर से भी वही चाल चलते हैं जो हमारा पड़ौसी बंदरों से चलता है। ईश्वर को तरह-तरह से फुसलाया और सिखाया पढ़ाया जाता है, “हे ईश्वर हमें अमुक चीज दे दीजिए, हमारा अमुक काम पूरा कर दीजिए, हमें यह लाभ कर दीजिए।” मानो ईश्वर मूर्ख हो जो जानता ही नहीं कि किसे क्या वस्तु देनी चाहिए, मानो वह जो कुछ दे रहा है वह हिसाब से कम दे रहा है, इसलिए उसे समझा बुझा कर, कह-सुनकर, खुशामद-दरामत से और ज्यादा देने के लिए तैयार कर लिया जाए। यह व्यापार बुद्धि बालकों के योग्य है, जिनका आध्यात्म विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है वे लोभ-लालच को लेकर ईश्वर तक पहुँचें तो किसी हद तक उनका प्रयास ठीक भी माना जा सकता है, क्योंकि उनकी मानसिक चेतना लोभ और भय से ही प्रभावित होती है, इसलिए वे ईश्वर के दंड के भय से, विपत्ति निवारण की आशा से तथा मालटाल हाथ लगने की आशा से ही ईश्वर की पूजा कर सकते हैं, उसका नाम ले सकते हैं।

आध्यात्म विद्या की जो लोग शोध कर रहे हैं, राजयोग की साधना के लिए यम-नियमों की जो साधना करना चाहते हैं उन्हें ईश्वर प्राणिधान का तत्त्व ज्ञान भले प्रकार समझना होगा और बुद्धिपूर्वक उस पर आरुढ़ होना होगा। पाँचवाँ नियम—‘ईश्वर पूजा’ नहीं वरन ‘ईश्वर प्राणिधान’ है। परमात्मा की हृदय में स्थापना करना, उसे हर घड़ी अपने साथ देखना, रोम-रोम में उसका व्यापकत्व अनुभव करना, यह ईश्वर प्राणिधान का चिन्ह है। मंदिर में मूर्ति की स्थापना की जाती है तो उसकी पूजा के लिए पुजारी नियत करना पड़ता है जो यथा समय सारी

पूजा पत्री किया करे, पुजारी अन्य कार्य भी करता है, पर प्रतिमा के भोग, स्नान, शयन, आरती आदि का ध्यान विशेष सावधानी के साथ रखता है। ईश्वर प्राणिधान में ईश्वर की प्रतिमा हृदय में, अंतःकरण में स्थापित करनी होती है और उसे चौबीस घंटे का साथी बनाना पड़ता है। पुजारी का प्रधान कार्य प्रतिमा की पूजा है इस प्रकार प्राणिधान को प्रधानतः ईश्वर में निमग्न रहना पड़ता है। ईश्वर को अपने में और अपने को ईश्वर में ओतप्रोत रखना पड़ता है।

चौबीस घंटे साथ रहने वाले अभिन्न मित्र से जिस प्रकार हर बात में सलाह ली जाती है और उसकी उपस्थिति का ध्यान रखते हुए अनुचित कार्यों की इच्छा को दबाना पड़ता है, वैसे ही ईश्वर की स्थापना के बाद होता है, सांसारिक मित्रों की अपेक्षा असंख्यगुना अधिक उच्च शक्ति और सद्गुणों से युक्त मित्र परमात्मा है, ऐसे परमात्मा को जिसने अपने अंदर स्थापित कर लिया है, उसे अपना चौबीस घंटे का साथी बना लिया है, निश्चय ही वह हर काम के लिए उसकी सलाह लेगा। क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इसके लिए अंतरात्मा से पूछा जाए तो सदैव योग्य, उचित और लाभदायक उत्तर मिलेगा। सामने पुलिस खड़ी हो तो चोर को चोरी करने से रुकना पड़ता है, परमात्मा को जो हाजिर-नाजिर समझता है, वह एकांत में, गुप्त रूप से यहाँ तक कि मन से भी पाप करने का साहस न करेगा, सर्व व्यापक ईश्वर की आँखों के सामने किस प्रकार कुकर्म किया जा सकता है? कोतवाल को सामने आते देखकर जुआरियों को भागते ही बनता है फिर जिसकी आँखें ईश्वर को हर घड़ी सामने खड़ा देखती हैं, वह अनीति के पथ पर किस प्रकार पैर बढ़ा सकता है?

दो व्यक्ति साथ साथ रहें तो अधिक शक्ति संपन्न से अल्प शक्ति वाला प्रभावित होता है और उसकी विशेषताओं को ग्रहण करने लगता है, सत्संगति का महत्त्व सर्व विदित है कि इसके प्रभाव से मनुष्य कुछ का कुछ बन जाता है। ईश्वर को साथी बना लेने से भी यही होता है, भक्त में भगवान के गुण आने लगते हैं, उसकी त्रुटियाँ हटाकर ईश्वरीय दिव्य गुणों का समावेश होने



लगता है। कोयलों के कारखाने में काम करने वाले के शरीर और कपड़े काले हो जाते हैं, ईश्वर के संपर्क में रहने वाले के कार्य और विचार सत्य से परिपूर्ण होने लगते हैं। परमात्मा महान है, दिव्य है, सत है, चैतन्य है, आनंदमय है, ईश्वर का साथी भी करीब-करीब ऐसा ही हो जाता है।

कर्मकांड की प्रक्रिया में पूजा-प्रार्थना का विधान है परंतु योग मार्ग में तो प्राणिधान की ही आवश्यकता है। “दिल के आईने में है तस्वीर यार की, जब जरा गरदन उठाई देखली” की भावना इतनी परिपक्व, पुष्ट और सजीव बननी चाहिए कि प्रत्यक्ष अनुभव हो कि जैसे कि साथ रहने वाला मित्र दिखाई देता है। ईश्वर की मन मंदिर में स्थापना कर लेने के बाद मनुष्य सत्कर्मों में ही प्रवृत्त रह सकता है, अपने अंदर सात्विक गुणों को ही स्थान दे सकता है।

## यम नियमों का तात्पर्य

राज योग में यम नियमों को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। योग की सफलता के शिखर पर पहुँचने के लिए जिन साधनाओं की जरूरत है, उनमें आदि गणना यम नियमों की है। आत्मोन्नति के लिए जिन सीढ़ियों पर पाँव रखकर चढ़ना पड़ता है, उनमें आरंभिक सीढ़ी नियम है, जिन पर पैर रखे बिना ऊँची सीढ़ियों पर पहुँचना असंभव है। क्रमशः चलने से ही किसी मार्ग को पार करते हुए निश्चित लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। ऐसा नहीं हो सकता कि रास्ते की यात्रा को छोड़कर कोई एकदम ऊपर पहुँच जाए। किसी ऊँचे मकान की छत पर पहुँचने के लिए सीढ़ी-सीढ़ी ही चढ़ना पड़ेगा, उसके सफल मनोरथ होने की आशा कौन कर सकता है, जो जमीन से उचट कर एकदम छत पर पहुँचना चाहता है और बीच के फासले को यों ही दर गुजर करते हुए छोड़ देना चाहता है।

हमारे पास प्रतिदिन योग साधन सीखने वालों के पत्र आते रहते हैं और कई व्यक्ति मिलने के लिए भी आते हैं, यह महानुभाव बेहद

उतावले होते हैं; कोई कहता है—हमारी कुंडलिनी जगा दीजिए, कोई ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं, किन्हीं की कुछ फरमाइश होती है, किसी की कुछ। इनकी उतावली इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि एकाध हफ्ते के अंदर सब कुछ पूरा हो जाना चाहिए। ऐसे सज्जनों को हमारे यहाँ से सूखे और कष्ट साध्य उत्तर मिलते हैं, तब वे दूसरा रास्ता ढूँढ़ते हैं, उनकी उतावली से किसी ढोंगी को अच्छा मौका हाथ लग जाता है, उलटे उस्तरे से उनकी हजामत बनाता है, पीछे जब उनके हाथ कुछ नहीं लगता तो इस महाविज्ञान के प्रति मन में दुर्भावनाएँ धारण करके निराशा पूर्वक इस मार्ग से सदा के लिए हट जाते हैं।

हम अपने पाठकों को सावधान कर देना चाहते हैं कि मार्ग का व्यतिक्रम करके एकदम ऊपर चढ़ जाने की तृष्णा न करें। प्रारंभिक साधना यम नियमों की है, इसलिए आरंभ यहीं से करना चाहिए। पहलवानी करने से पूर्व बीमारी दूर करने की जरूरत होती है, जिसे बुखार, पेचिश, खाँसी, सिर दर्द, सूजन आदि ने दबा रखा है, उसे कुश्ती लड़ने या मुद्गर फिरने की सलाह कोई मूर्ख गुरु ही दे सकता है। यदि कोई मनुष्य बलवान, पहलवान, सुडौल, मोटा, हृष्ट-पुष्ट बनना चाहता है तो उसे सबसे पहला काम यह करना चाहिए कि शरीर में जो घुन लगे हुए हैं, उन्हें हटावे, जिन कारणों से काया जर्जर हो रही है, उन्हें दूर करे। जब स्वास्थ्य साधारण दशा में आ जाएगा, तभी पहलवानी करने, मुद्गर फिराने, बोझा उठाने या लंबी यात्रा करने के मनसूबे पूरे हो सकेंगे।

योग साधन एक बड़ा पुरुषार्थ है, जिसके लिए शारीरिक और मानसिक निरोगता एवं स्वस्थता की आवश्यकता है। दुर्गुण, दुर्व्यसन और कुविचारों के कारण शरीर और मन बीमार रहता है। भले ही वह बीमारी वैद्य, डॉक्टरों को नाड़ी में दिखाई न पड़े तो भी उसका प्रभाव बड़ा घातक और भयंकर होता है, कुविचार और कुसंस्कारों की रस्सियों में बँधा हुआ मन और इंद्रिय लिप्साओं में जकड़ा हुआ शरीर उस स्वस्थता से सर्वथा वंचित रहता है, जिसकी कि योग साधक के लिए अनिवार्य

आवश्यकता है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और लोभ इन पाँच दुष्कर्मों का निवारण करने की व्यवस्था यमों के अंतर्गत है और मलिनता, बेचैनी, आलस्य, अज्ञान, नास्तिकता को दूर करने के लिए नियमों का विधान है। यह दस रोग ऐसे हैं जो शारीरिक और आत्मिक स्वास्थ्य को खा डालते हैं, भीतर ही भीतर मनुष्य को जर्जर कर देते हैं।

यदि इन्हें हटा दिया जाए तो ईश्वर ने मनुष्य को जो महाशक्तियाँ दे रखी हैं, उनका अपव्यय रुक जाए और उस महान संपदा का पूरा-पूरा लाभ उठाने का अवसर मिलने लगे। मनुष्य के अंदर ईश्वरीय शक्तियों का इतना महान भंडार भरा हुआ है, जिनका कुछ ओर-छोर नहीं। इन शक्तियों को यदि ठीक रीति से प्रकट होने का अवसर न मिले तो मनुष्य इतना प्रचंड शक्तिशाली बन सकता है कि उसकी महत्ताएँ देखकर साधारण लोगों को आश्चर्य करना पड़ता है। पातंजलि के योग दर्शन में साधना पाद के सूत्र ३५ से ४५ तक में यम नियमों की साधना से जो सिद्धियाँ मिलती हैं, उनका वर्णन किया गया है। यह सिद्धियाँ आश्चर्यजनक दिखाई देती हैं पर वास्तव में इनमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। एक स्वस्थ शरीर के मनुष्य को कांतिवान, फुर्तीला, बलवान, तेजस्वी, प्रभावशाली, बुद्धिमान, प्रसन्नचित्त और कमाऊ होना ही चाहिए; यह स्वस्थता के स्वाभाविक चिह्न हैं, इनका होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। हाँ बीमार आदमी के लिए यह सब बड़ी भारी नियामतें हैं। रोग के कारण जो दीन हीन हो रहा है, उसे स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक लक्षण भी देवता के वरदान प्रतीत हो सकते हैं, निर्बल और रोगी जो दाल का पानी ही प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिए तो मिठाई, पकवान खाना और हजम करना सुर दुर्लभ बात है। परंतु निरोग व्यक्ति के लिए पकवान और मिठाई खाना, पचाना साधारण सी बात है। यम नियमों का पालन करना आत्मा की स्वाभाविक और स्वस्थ कार्य प्रणाली है इसके फलस्वरूप स्वभावतः वे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं जो उलटे मार्ग पर चलने वालों को आश्चर्यजनक और सुर दुर्लभ प्रतीत होती हैं।

श्रेष्ठ आचरण, सदाचार, भलाई का जीवन, ज्ञानपूर्ण दृष्टिकोण, मनुष्यता का पालन—यही यम नियमों का तात्पर्य है। अच्छे मार्ग पर चलना, अच्छे काम करना, अच्छाई को पसंद करना, योग की यह प्रथम सीढ़ी है। बुराई से बचकर अच्छाई का अवलंबन करना, स्वार्थ की ओर से वृत्ति हटाकर परमार्थ में दिलचस्पी लेना, प्राणियों के साथ प्रेम और सेवा का व्यवहार करना ऐसी उत्तम नीति है, जिसके द्वारा मलीनता कटती है और अंतःकरण में पवित्रता एवं निर्मलता का आविर्भाव होने लगता है। जैसे कोरे कागज पर ही पत्र लिखे जा सकते हैं, लिखे हुए पर नहीं, उसी प्रकार निर्मल अंतःकरण पर ही योग की शिक्षा और साधना अंकित हो सकती है।

जो साधक ब्रह्म परायणी होना चाहते हैं, ब्रह्म विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, योग में प्रवृत्त होना चाहते हैं, उनका सर्वप्रथम कार्य यह है कि अपने विचार और आचरणों को नेकी, भलाई, पवित्रता, ईमानदारी और सच्चाई से परिपूर्ण बनाने की प्रबल प्रयत्न करें। यम नियमों की शिक्षा के अंतर्गत योग शास्त्र के आचार्यों का यही दृढ़ आदेश है।

## यम नियमों की शास्त्रीय विवेचना

**संसारोत्तरणे युक्तियोगं शब्दे न कथ्यते।**

(योग वाशिष्ठ ६/१३/३)

अर्थात्—संसार से पार होने की जो युक्ति है, उसे योग कहते हैं।

**मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते।**

(महोपनिषद् ५/४२)

अर्थात्—मन को सांसारिक विषयों से हटाकर परमात्मा में लगाना योग है या मन को बुरे विषयों में न जाने देने के लिए जो उपाय हैं, वह योग है।

**हिंसादिभ्यो निषिद्धधर्मेभ्योयोगिनं यमयति निवर्तयतिइतियमः।**

अर्थात्—हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों से जो पुरुष को रोके, वे यम हैं।

ऐश्वर्यदार पुत्राद्यान्यमुष्य कदाक्षयम्।

इति या जायते चित्तेसाहिंसा परिकीर्तिता ॥

(पद्म पु० ७/१७/८६)

अर्थात्—ऐश्वर्य स्त्री पुत्रादि कब किस प्रकार नष्ट हों, इस प्रकार के चित्त में विचार आना ही हिंसा है।

श्रीरामचंद्रजी ने सामने आई हुई ताड़का को देखकर स्त्री होने से मारने में शंका की तब विश्वामित्र ने समझाया कि—

यस्यास्तु निधनाद् रामजनाः सर्वे निराकुलाः।

भवन्ति सततं तस्माद् तस्यापुण्य प्रदोवधः ॥

(नृसिंह पु० ४७/७९)

अर्थात्—इस एक ताड़का के मारने से हे राम यहाँ के सारे जन आनंद में हो जाएँगे अतः इसका मारना पुण्यप्रद है।

वाल्मीकि रामायण में भी विश्वामित्र ने कहा है कि

मन्निषोगादिमंदेशं कुरुनिष्कंटकं पुनः।

(बाल० २४/३०)

अर्थात्—मेरे कहने से इस दुष्ट ताड़का को मारकर देश को कंटक रहित कर दो।

इस पर श्रीरामचंद्रजी ने कहा है कि—

करिष्यामि नसंदेहस्ताड़काबध मुत्तमम्।

गो ब्राह्मण हितार्थाय दुशस्यास्य सुखाय च ॥

(बाल० २६/४)

अर्थात्—गौ, ब्राह्मण और देश के सुख के लिए निःसंदेह ताड़का वध करूँगा।

## सत्य की परिभाषा

इष्टं श्रुतं चानुमितं स्वानुभूतं यथार्थतः।

कथनं सत्यमित्युक्तं पर पीड़ा विवर्जितम् ॥

(स्कं० पु० १/२/५५/१६, लिंग पु० पू० भा० ८/१३)

अर्थात्—जैसा देखा, जैसा सुना, जैसा अपने हृदय में निश्चय किया हो, उसी प्रकार कहना सत्य है, परंतु वह सत्य सत्पुरुष को पीड़ित न हो।

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।

हितं नराणां भवतीह येन तदेव सत्यं न तथान्यथैव॥

(देवी भागवत तृ० अ० ११/३६)

अर्थात्—वह सत्य, सत्य नहीं जिससे किसी सत्पुरुष की हानि होती हो, जिस मिथ्या से किसी सत्पुरुष की रक्षा होती हो, वह मिथ्या भी सत्य में शुमार है, वास्तव में तो जिस भाषण से सत्पुरुष का हित होता हो, वह सत्य में शुमार है।

किसी दुकानदार से दो मित्र सौदा ले रहे थे, दुकानदार की आँख बचाकर एक मित्र ने फल उठाकर दूसरे मित्र को दे दिया, पूछने पर उठाने वाला कहता है 'मेरे पास तुम्हारा फल नहीं' दूसरा कहता है कि 'मैंने तुम्हारा फल नहीं उठाया' इन दोनों का भाषण अक्षरों में सत्य है परंतु मिथ्या अवश्य है।

परहितार्थं वाङ्मासो यथार्थत्वसत्यम्।

अर्थात्—दूसरे के लिए मन वाणी का यथार्थ व्यवहार सत्य है। यह सत्य की संक्षेप में परिभाषा है।

अन्याये न परधनादि ग्रहणं स्तेतम्। (मनु० ६/९२)

अर्थात्—अन्याय से दूसरे का धनादि लेना चोरी है।

ब्रह्मचर्यं समस्तेन्द्रिय संयमः।

कर्मणा मनसा वाचा स्त्रीरगात्र परिवर्जनम्।

ऋतौ भार्या तदा स्वस्थ ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥

अर्थात्—मन, वाणी और शरीर से पर स्त्री का सर्वथा त्याग और अपनी स्त्री से ऋतुकाल में गमन करना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह

यतीनां सर्वं संन्यासो मनोवाक् काय कर्मणा।

गृहस्थानां मनसा स्मृत एषोऽपरिग्रहः॥

(स्कं० पु० १/२/५५/१९)

अर्थात्—संन्यासी शरीर निर्वाह मात्र से अधिक का मन, वाणी, शरीर से परित्याग करे और गृहस्थ मन से त्याग करे अर्थात् आसक्त न हो।

## शौच

शौचं वाक् काय मनसां शुद्धिः ॥

वाङ्मनोजल शौचानि सदायेषां द्विजन्मनाम् ।

त्रिभिः शौचेरुपेतोयः सस्वर्ग्यो नात्र संशयः ॥

(वृद्ध पराशर ६/१२६)

अर्थात्—मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, रूखे वचन, व्यर्थ की बातें—इनसे जिनकी वाणी रहित है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट से रहित जिसका मन है, जल से जिसका शरीर, वस्त्रादि शुद्ध हैं, ऐसे पुरुष स्वर्गभोगी हैं, इसमें संशय नहीं।

## संतोष

संतोषो न्यायागतनो नादिनाऽलंबुद्धिः ।

अर्थात्—न्याय (अपने पुरुषार्थ) से पैदा हुए धनादि से प्रसन्न रहना संतोष है।

## तपः

तपः स्वधर्मं वर्तित्वम् । (म० भा० वन० ३१३/८८)

अर्थात्—चाहें कितना ही कष्ट पड़े फिर भी अपने धर्म (कर्तव्य-कर्म) से न डिगना तप है।

तपः सार इंद्रिय निग्रहः । (चाणक्य सूत्र ५/८५)

अर्थात्—इंद्रियों को अनुचित विषयों से रोकना ही असली तप है।

## स्वाध्याय

तदहरब्राह्मणो भवति यदहस्वाध्यायं,

नाधीते तस्मान्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥

(शतपथ ११/५/७)

अर्थात्—उसी दिन ब्राह्मण-अब्राह्मण (ब्रह्मणत्व से गिर जाता है) हो जाता है जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

**स्वाध्यायान्मा प्रमदः । (तैत्तिरीयोपनिषद्)**

अर्थात्—स्वाध्याय में प्रमाद मत करो।

**स्वाध्यायाभ्यसनं चैबबाड्मयं तपउच्यते ।**

(गीता १७/१५)

अर्थात्—स्वाध्याय करना वाणी का तप है।

**स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।**

(योग० १/२८ व्यास भाष्य)

अर्थात्—योग और स्वाध्याय की संपत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

**स्वाध्यायद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।**

**स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥**

(योग १/२८ व्यास भाष्य)

अर्थात्—स्वाध्याय से योग की उपासना करे और योग से स्वाध्याय का अभ्यास करे। स्वाध्याय की संपत्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

**त्रियोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।**

(छान्दोग्य २/२३/१)

अर्थात्—धर्म के तीन स्कंध हैं—यज्ञ, स्वाध्याय और दान।

**तपःस्वाध्यायेऽश्वर प्राणिधानानि क्रियायोगः ।**

(योग २/१)

अर्थात्—तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान यह क्रिया योग है।

**ये ह वै के च श्रमा हमे द्यावा पृथ्वी अन्तरैण ।**

**स्वाध्यायो हवै तेषां पराकाष्ठा ॥**



अर्थात्—इस पृथ्वी और द्युलोक के बीच में जो कुछ भी परमार्थ है, उसमें स्वाध्याय सर्वोपरि (पराकाष्ठा) है।

यावन्त् हवाइमां पृथिवीं बित्तेन पूर्णा ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयाँ से वाक्षय्य एवं विद्वान अहरहः स्वाध्यायमधीत्।

(शतपथ ११/५/७)

अर्थात्—इस धनधान्य पूर्ण समस्त पृथ्वी का दान करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, उससे तिगुना पुण्य अथवा और भी अधिक अक्षय्य पुण्य उस पुरुष को मिलता है जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है।

यह शास्त्र वचन हमें आदेश करते हैं कि स्वाध्याय नित्य करना चाहिए। अब यह देखना चाहिए कि स्वाध्याय क्या है। स्वाध्याय शब्द के दो अर्थ किए जाते हैं। (१) स्वयम् अध्ययनम्—अर्थात् अपने आप, बिना किसी दूसरे की सहायता के अध्ययन करना। विचार, चिंतन, मनन द्वारा सामने उपस्थित सर्वतोमुखी समस्याओं को समझना और उनके सुलझाने का मार्ग तलाश करना। (२) स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्—अर्थात् अपने आपका अध्ययन करना। आत्मचिंतन द्वारा अपने अंदर काम करने वाली दैवी और आसुरी वृत्तियों को घटाने एवं दैवी वृत्तियों को बढ़ाते रहने का पथ प्रशस्त करना। उपरोक्त दोनों ही प्रकार के स्वाध्याय आवश्यक हैं। दोनों के मिलने में ही एक पूर्ण स्वाध्याय बनता है।

## यम नियम की महिमा

पुंसा मुपासितास्तात यथाकामं दुहन्तिच।

(भा० ११/१९/३५)

अर्थात्—यम नियम पर चलने से मनुष्य के सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं। यम नियमों की महत्ता असाधारण है। इनकी साधना से योग द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ सहज ही मिल जाती हैं।

